बिहार सेकेंडरी स्कूल एक्जामिनेशन बोर्ड द्वारा स्वीकृत

नेत्र-दान

श्री रामवृक्ष बेनीपुरी

बेनीपुरी-प्रकाशन

प्राप्ति-स्थान

बेनीपुरी-प्रकाशन
बोरिंग रोड
पटना, १

या

बेनीपुरी-प्रकाशन
मोतीझील
मुजफ्फरपुर

स्कूल-संस्करण
मूल्य—१।)

मुद्रक :

फ्री प्रेस प्राइवेट लिमिटेड,
पटना—१

दो शब्द

सम्राट अशोक के कनिष्ठ पुत्र 'कुणाल' की कहानी इतिहास में प्रसिद्ध है और इसपर साहित्यिक रचनायें भी कम नहीं हुई हैं। 'नेत्र-दान' उसी ऐतिहासिक घटना के आधार पर लिखा गया है, किन्तु इसे लिखकर पाँच सवारों में गिनती पाने की इच्छा कदापि नहीं थी। यह मेरी प्रवृत्ति भी नहीं।

मैंने अनुभव किया, इस घटना के विश्लेषण में कहीं कुछ भ्रान्ति अवश्य है। अतः मैंने उस घटना को एक नई पृष्ठभूमि में रखने की चेष्टा की है, जो, मेरे ख्याल से तत्सामयिक घटनाओं और सामाजिक धारणाओं के अधिक निकट है। साथ ही उसे कलिंग की क्रूर हत्या से जोड़कर मैंने युद्ध की भयानकता की ओर शान्ति की आवश्यकता की ओर इशारा किया है।

मुझे इस बात की प्रसन्नता है कि मेरी इस रचना को भी सहृदय साहित्य-प्रेमियों ने अपनाया है और बिहार के सेकेण्डरी बोर्ड ने इसे मैट्रिक की हिन्दी पाठ्य-पुस्तकों में रखकर मुझे और भी अनुगृहीत किया है।

पटना

श्रीरामवृक्ष बेनीपुरी

१-७-५२

प्राप्ति स्थान

...नीपुरी-प्रकाशन

नाटक के पहले

'नेत्रदान' भारतीय इतिहास की एक अत्यन्त करुण घटना पर आधारित है ।

यह बिहार का सौभाग्य रहा है कि इसकी पुत्रियों और पुत्रों को लेकर भारतीय साहित्य में कितने ही काव्य, नाटक, उपाख्यान आदि रचे गये ।

सीता, अहिल्या, अम्बपाली, वासवदत्ता तथा चन्द्रगुप्त, अजातशत्रु, अशोक, कुणाल आदि ऐसी पात्रियाँ और पात्र इस भूमि के शृंगार रहे कि भारतीय साहित्य-स्रष्टाओं को बार-बार अपनी प्रतिभा के प्रदर्शन के लिए इनके चरित्र की शरण लेनी पड़ी।

निस्सन्देह ही जब किसी ऐतिहासिक या पौराणिक पात्र या पात्री का चरित्र किसी कलाकार के हाथ में आता है, तो उसका रूप वही नहीं रह जाता, जो इतिहास या पुराण में वर्णित है।

कलाकार उस चरित्र में अपना रंग भरता है ; उसके किसी खास गुण पर जोर देता है, उसे उभाड़ता है, उससे सम्बन्धित घटनाओं की नई व्याख्या भी प्रस्तुत करता है ।

यही कारण है कि भिन्न-भिन्न काव्य-ग्रन्थों में एक ही व्यक्ति का चरित्र भिन्न-भिन्न रूपों में पाया जाता है।

बिहार के जिन पुत्रों और पुत्रियों को कलाकारों के हाथों में पड़ने का सौभाग्य प्राप्त हुआ, उनके भी कई रूप हमारे सामने आये हैं।

'नेत्र-दान' जिस घटना पर आधार रखता है, उसे भी कई रूपों में प्रस्तुत किया जा चुका है। किन्तु, इसके लेखक ने जिस रूप को

अपनाया है, उसे समझने के लिए इतिहास के सुनहले पृष्ठ को एक वार फिर से उलट जाना आवश्यक है ।

और, तभी इसकी मार्मिकता का यथार्थ आस्वादन भी संभव हो सकता है ।

अशोक की महानता

अशोक की महानता ने आधुनिक इतिहास-लेखकों का ध्यान अपनी ओर अधिकाधिक आकृष्ट किया है ।

विश्व-इतिहास की रूपरेखा प्रस्तुत करते हुए एच० जी० वेल्स ने अशोक की भूरि-भूरि प्रशंसा की है। सिर पर सोने का ताज पहन कर और हाथ में फौलादी तलवार लेकर जहाँ संसार के अन्य राजाओं ने संहार का भयानक दृश्य उपस्थित किया, वहाँ एक यह भी सम्राट थे, जिन्होंने भिक्षुओं का बाना धारण कर संसार के कोने-कोने में शान्ति-धर्म का सन्देश भेजा !

पं० जवाहरलाल नेहरु ने भी अपनी 'विश्व-इतिहास की झलक' में अशोक का उल्लेख बड़े गौरव के साथ किया है।

किन्तु, इतिहास बताता है, अशोक सदा वह अशोक नहीं थे, जिनके शुभ्र कृतृत्वों की चर्चा संसार के इन दो महापुरुषों ने तथा अन्य इतिहासकारों ने बारम्बार की है।

अशोक, अपने प्रचंड स्वभाव के कारण, चंडाशोक के नाम से भी अभिहित थे। कहा जाता है, उन्होंने अपने सौ भाइयों की हत्या कर उनके सिर एक कुएँ में डलवाये थे, जिसे आजकल अगमकुआँ कहते हैं, जो पटना से सटे अशोक-कालीन खंडहरों में आज भी कायम है ।

इतिहास यह भी कहता है, उनमें विजय की बड़ी आकांक्षा थी और भारत के कई भूखण्डों को सैन्यबल से जीत कर उन्होंन अपने राज्य में मिलाया था।

विजय और राज्य की इसी आकांक्षा के कारण उन्होंने कलिंग पर चढ़ाई की और नर-संहार के बाद उसे पराजित किया।

किन्तु, कलिंग की इस विजय ने ही उनके जीवन को एक नया मोड़ दे दिया।

कहते हैं, कलिंग म की गई निर्मम और भीषण हत्याओं के कारण उनके प्रचंड स्वभाव में भी परिवर्तन हुआ और उन्होंने प्रतिज्ञा की कि अबसे वह फिर कभी युद्ध नहीं करेंगे!

उस समय बुद्ध का शान्ति-धर्म भारत में फैल रहा था।

उन्होंने उस धर्म को स्वीकार किया और अपना शेष जीवन संसार में इसी शांति-धर्म के प्रचार के लिए उत्सर्ग कर दिया।

इस उत्सर्ग का चरम बिन्दु यह रहा कि उन्होंने अपनी पुत्री संघमित्रा और पुत्र महेन्द्र को सिंहल भेज दिया।

अब भी सिंहल में संघमित्रा और महेन्द्र से सम्बन्धित अवशेष पाये जाते हैं और बोधि-वृक्ष की जो डाल उनलोगों द्वारा सिंहल ले जाई गई, वह एक महान वृक्ष के रूप में आज भी जीवित है!

कुणाल

कुणाल अशोक का कनिष्ठ पुत्र था और उसके सम्बन्ध में एक बड़ी ही करुण कथा बौद्ध-साहित्य में पाई जाती है।

कुणाल की सौतेली माँ थी तिष्यरक्षिता। वह सिंहलनरेश तिष्य की पुत्री थी।

कुणाल बड़ा ही सुन्दर था, विशेषतः उसकी आँखें बड़ी ही सुन्दर, मादक और मोहक थीं।

कहते हैं, उन आँखों पर तिष्यरक्षिता मोहित हो गई।

इसी समय अशोक ने कुणाल को उत्तर-पश्चिमी सीमा पर होनेवाले विद्रोह को दबाने के लिए राजधानी से बाहर भेज दिया।

तिष्यरक्षिता चिढ़ गई। उसने अपना अपमान बोध किया और अशोक की मुहर लेकर एक जाली आज्ञापत्र उसके पास भेजवा दिया कि अपनी आँख निकाल कर भेज दो।

पितृ-भक्त कुणाल ने अपने पिता की आज्ञा का पालन किया।

वह अंधा होकर अपनी पत्नी कंचनमाला के साथ इधर-उधर घूमता रहा !

कविवर मैथिलीशरण गुप्त ने अंधे कुणाल की मर्मव्यथा को अपने 'कुणालगीत' में सूत्रबद्ध कर हिन्दी-साहित्य को एक अभूतपूर्व देन दी है।

बौद्ध-साहित्य कहता है, कुणाल गाता, भीख मांगता, कंचनमाला के साथ एक दिन अनजाने पाटलिपुत्र आ पहुँचा।

तब सारी बातें खुलीं। अशोक ने तिष्यरक्षिता को दंड दिया। कहते हैं, कुणाल को फिर आँखें भी प्राप्त हुईं।

यह नाटक

किन्तु, इस नाटक में कथा का अन्तिम भाग समाहित नहीं है।

कहा जा चुका है, कलाकार वाध्य नहीं है कि वह इतिहास को पूरा-पूरा, जैसा-का-तैसा, दुहराये।

यदि वह ऐसा करे, तो ऐतिहासिक इतिवृत्ति और कलाकृति में भेद ही क्या रह जाय ?

पहले मैं चाहता था कि अशोक पर ही एक नाटक लिखूँ।

किन्तु, जब इसके लिए मैंने आवश्यक सामग्रियों की खोज-ढूंढ़ शुरु की, तो मुझे अशोक से अधिक अशोक-परिवार ही कलाकृति के लिए कोमल, आकर्षक जँचा।

संघमित्रा, महेन्द्र और कुणाल--तीनों के चरित्र को लेकर मैंने तीन एकांकी लिखे। ये तीनों रेडियो से प्रसारित हुए तथा कई स्थानों पर अभिनीत हुए और हो रहे हैं।

'नेत्रदान' कुणाल-सम्बन्धी एकांकी है।

एकांकी का यह नाम सिर्फ मौलिकता की खोज में ही नहीं रखा गया, बल्कि मैं इस घटना की जैसी व्याख्या रखना चाहता था, उसके उपयुक्त यही नाम था।

इस कारण घटना का मूल-स्रोत मैं कलिंग के युद्ध तक ले जाना चाहता था।

युद्ध मानवता का सदा अभिशाप रहा है। कल वह अभिशाप था, आज भी अभिशाप है और आगामी काल में भी वह मानवता के लिए अभिशाप ही रहेगा।

जो युद्ध करते हैं या कराते हैं, उन्हें प्रायश्चित देना होगा। चाहे आज दें, या कल देने को वाध्य हों!

सम्राट अशोक की हिय की आँखें तुरत खुलीं। उन्होंने प्रायश्चित देने में कोई कसर नहीं रखी। इसीसे वह इतिहास में अमर हुए।

किन्तु, उनके परिवार को भी इस प्रायश्चित में शामिल होना पड़ा।

सबसे पहले संघमित्रा और महेन्द्र को--स्वतः स्वेच्छा से। कुणाल सबसे कोमल था, अतः सभी उसे बचाना चाहते थे।

किन्तु क्रूर नियति ने उससे वह प्रायश्चित वसूल किया, जिसकी किसी ने कल्पना तक नहीं की थी!

नाटक की रूपरेखा

बौद्ध-साहित्य कहता है, जब सम्राट अशोक ने बुद्ध का शांति-धर्म स्वीकार किया, तो सिंहल-नरेश ने अपना दूत उनके पास भेजकर निवेदन किया कि इस धर्म के प्रचार के लिए वह किसी योग्य व्यक्ति को उसके देश में भेजें।

तब संघमित्रा और महेन्द्र—दोनों वहाँ भेजे गये।

वहीं, इस बात का भी उल्लेख है कि सिंहल-नरेश ने अपनी पुत्री को उपहार-रूप में अशोक के पास भेज दिया था।

अतः मैंने नाटक का प्रारम्भ सिंहल से ही किया है।

तिष्यरक्षिता पाटलिपुत्र जा रही है, उससे बढ़कर प्रसन्नता की बात संघमित्रा के लिए और क्या हो सकती है? वह फूली नहीं समा रही है, किन्तु महेन्द्र के मन में आशंका जगती है!

आशंका—किसके लिए?

एक दुर्बल, कोमल, असहाय प्राणी के लिए!

हाँ, कुणाल को मैंने एक कलाकार के रूप में चित्रित किया है और कलाकार से बढ़कर इस प्रपंची संसार में दुर्बल, कोमल, असहाय प्राणी और कौन है?

इसके बाद, रक्षिता पाटलिपुत्र आती है—वहाँ से, जहाँ उसकी प्यारी बहन और पूज्य अग्रज हैं, कुणाल स्वभावतः ही उसकी ओर आकृष्ट होता है।

और, जब उसे यह पता चलता है, रक्षिता भी कला की उपासिका है और वह एकाकीपन से घबराती है, तब ममता-वश, उसका आकर्षण और बढ़ता जाता है!

दूसरे दृश्य का सार यही है।

उधर अशोक राजपाट और धर्म-प्रचार में फँसे हैं; इधर एक युवक और युवती की एकान्त कला-साधना चलती है।

इसकी परिणति क्या होगी?

स्वभावतः ही अब कुणाल की पत्नी कंचनमाला चिंतित होती है!

कुणाल को वह जानती है, उसपर उसका विश्वास है। वह अपनी परिचारिका से कहती है—"परिचारिके, मैं कुमार को जानती हूँ। वह कला की उस सीमा तक पहुँच चुके हैं जहाँ वासनाओं की छाया भी नहीं पहुँच सकती। उज्ज्वलता ही जहाँ का रंग होता है, पवित्रता ही जहाँ की गंध होती है।"

किन्तु यह राज-परिवार ठहरा—न जाने कब क्या तूफान खड़ा हो जाय?

इसी समय कुणाल पहुँचते हैं और कलाकार-सुलभ सरलता में ही कुछ ऐसी बातें कह जाते हैं कि कंचनमाला की चिन्ता भय में परिणत हो जाती है।

इसीसे जब पता लगता है कि कुणाल को सम्राट बाहर भेजना चाहते हैं, तो वह इसे वरदान ही मान लेती है!

तीसरा दृश्य यहाँ समाप्त होता है।

चौथे दृश्य में कुणाल के बाहर चले जाने के बाद रक्षिता के हृदय में उठनेवाली प्रतिक्रियाओं के घात-प्रतिघात के चित्र प्रस्तुत किये गये हैं!

वह अपमान बोध करती है। फिर इसमें उसे अपने देश और अपने वर्ण के अपमान का बोध होता है....

"मैं" सिंहल से आई हूँ न? सिंहल में राक्षसी बसती हैं न?"

वह आप-ही-आप कहती है....

"रक्षिते, तू राक्षसी है न? वे तुम्हें राक्षसी समझते हैं!....

फिर क्यों कोमल भावना ? जिसने मानवी रक्षिता का अपमान किया, वह राक्षसी रक्षिता का प्रकोप सहे!"

सबसे बढ़कर वह इस अपमान में कंचनमाला का हाथ देखती है। आग में घी पड़ता है! वह निश्चय कर लेती है....

"चेहरे पर आँखें--कितनी सुन्दर! किन्तु, इन काली हथेलियों पर...."

और इस निश्चय का फल पाँचवें दृश्य में देखिये!

कंचनमाला के कंधे पर हाथ रखे कुणाल पाटलिपुत्र के निकट पहुँचता है। यहाँ की हवा में, यहाँ के वातावरण में वह कुछ ऐसी चीजें पाता है जिससे उसे लगता है, वह किसी परिचित स्थान में पहुँच गया। इस हवा में गंगा की--पाटलिपुत्र के निकट की गंगा की--शीतलता है क्या? और, कोयल की इस काकली में आम के बौरों की गंध भी घुली है क्या?

मानता हूँ, इसमें मेरा पाटलिपुत्र-सम्बन्धी पक्षपात बोलता है, किन्तु मैं अपने को इससे बचा नहीं सकता था।

यहीं पर मैंने, कुणाल की ही कलाकार-सुलभ वाणी में, उस करुण घटना का वर्णन दिया है कि किस तरह उसने अपनी आँखें निकालकर भेजी थीं।

और जब उसे पता चलता है, यह उसकी छोटी माताजी का कुचक्र था, तो वह बोल उठता है....

"तुमने सुना है न कंचने, प्रेम अंधा होता है! क्या कला भी अंधी होती है?"

नाटक लिखते समय जो वाक्य अनायास लिख गया, उसकी मार्मिकता से आज भी मैं अभिभूत हूँ!

यदि सिर्फ प्रेम और कला का द्वन्द्व ही मुझे दिखाना होता, तो

नाटक को यहीं समाप्त किया जाना चाहिये था। कई कलाप्रेमी मित्रों ने ऐसी राय भी दी थीं!

किन्तु, मैंने कला को कभी मानसिक विलास या बिहार का साधन नहीं माना।

अनावश्यक रूप से सोद्देश्यता लाना भी कला की हत्या करना है। किन्तु, उसे आवश्यकता से अधिक उन्मुक्त विचरण करने देना तो मानव-कर्त्तव्यों के प्रति उदासीनता दिखाना है!

छठे और अन्तिम दृश्य में हम फिर सिंहल पहुँच जाते और फिर संघमित्रा और महेन्द्र के वार्तालापों में डूब जाते हैं।

इस घटना को जानकर भिक्षुप्रवर महेन्द्र भी विचलित हो उठे हैं, और जब संघमित्रा को इसकी खबर होती है, वह तो बेहोश हो जाती है!

किन्तु, मानव-चेतना अन्ततः अपना ऊर्ध्वगामी रूप दिखाती है। महेन्द्र इस घटना की व्याख्या करते हैं--"कलिंग, अशोक, संघमित्रा--सिंहल, तिष्यरक्षिता, कुणाल--ये सब एकही घटना-श्रृंखला की कड़ियाँ हैं।"

नाटक के पहले दृश्य में उन्होंने कहा था--"कलिंग में हमने जो हत्यायें की, रक्त बहाया, अभी शायद उसका पूरा प्रायश्चित नहीं हो पाया है।"

किन्तु, अब स्वीकार करते हैं--"मित्रे, कलिंग का प्रायश्चित पूरा हुआ; हमने असंख्य गर्दनें काटकर जो रक्त बहाया, उसका मूल्य हमें आँखों के रक्त से चुकाना पड़ा--सुन्दरतम आँखों के रक्त से!"

यही नहीं, महेन्द्र चाहते हैं, इस घटना से लोग पाठ ग्रहण करें...

"फिर कलिंग न बने, बहुत ठीक! लेकिन कलिंग न बने, इसके लिए एक नया संसार बनाना होगा, मित्रे! उठो, चलो--

आँसू पोंछो, प्रयत्न में लगो ! यदि एक-एक व्यक्ति अपने कर्त्तव्य को समझे, उसमें जुट जाय, तो फिर नया संसार बस कर रहेगा, बसकर, बसकर रहेगा !"

इन्हीं शब्दों के साथ नाटक समाप्त होता है।

नाट्य-कला

किसी भी कलाकृति का निर्माण सरल और सहल कार्य नहीं ! नाटक की रचना तो और कठिन है।

नाटक दृश्य-काव्य है। नाटक पढ़ा भी जाता है; किन्तु उसका उद्देश्य तो होता है, रंगमंच पर खेला जाना।

कुछ गज लम्बे-चौड़े स्थान में, कुछ घड़ियों के अन्दर, उन सब बातों का अवतरण करना जो एक व्यक्ति या समूह के जीवन में भिन्न भिन्न स्थानों पर, भिन्न-भिन्न समयों में घटित हुई !

फिर यदि नाटक का नायक ऐतिहासिक व्यक्ति हुआ, तो और भी बढ़ जाती है।

कलाकार को कुछ स्वाधीनता प्राप्त है; किन्तु उस स्वाधीनता की भी सीमा है, जिसका अतिक्रमण कर वह समाज के सामने अपराधी बन जा सकता है।

अतः कलाकार को पग-पग पर चौकस और सावधान रहना पड़ता है।

"नेत्रदान" की रचना के समय भी ऐसे प्रसंग आये हैं।

बौद्ध-कथा के अनुसार तिष्यरक्षिता कुणाल की आँखों पर मोहित हुई !

एक नाटककार यह भी कर सकता था, कि रंगमंच पर हो रक्षिता कुणाल से प्रणय की भीख मांगे !

कुछ रसिकों को यह अच्छा भी लगता, मुझे दुःख और खेद

के साथ कहना पड़ता है कि ऐसा किया भी गया है; किन्तु क्या यह भारतीय परम्परा के अनुरूप होता ?

और, आँखों पर मोहित होने का अर्थ क्या सदा वासना ही है ?

मैंने अपने नाटक में इसे रहस्यमय ही रहने दिया है! आँखों पर मोहित होने की बात को सत्य मानकर उससे होनेवाली भिन्न-भिन्न व्यक्तियों की प्रतिक्रियाओं से मैंने भ्रमों और भ्रांतियों का ताना-बाना बुना। और यह ताना-बाना स्वभावतः ही इस करुण घटना का स्वाभाविक कारण बना।

एक स्थान पर मैंने कहा है, कला का काम उठाना है, गिराना नहीं। बौद्ध युग की इस मनोरम कथा का उपयोग जिन्होंने नैतिक पतन के लिए किया है, उन्होंने अशोक-परिवार के प्रति महान अपराध किया है, जिसे इतिहास कभी क्षमा नहीं करेगा।

योंही रंगमंच पर ही कुणाल से आँखें निकलवा कर एक करुण दृश्य उपस्थित कराया जा सकता था, जो दर्शकों के मुँह से अचानक चीख निकलवा देता।

किन्तु, भारतीय नाट्य-परम्परा इसे भी रोकती है और मेरा विचार ह, यह उचित ही है।

हाल ही मैंने पैरिस में एक प्रसिद्ध ग्रीक ट्रैजडी (शोकान्त नाटक) का अभिनय देखा था। उसमें नायक पश्चाताप में अपनी आँखें आप फोड़ लेता है। वहाँ भी देखा, यह आँख फोड़ने की क्रिया वह रंगमंच पर नहीं करता। हाँ, फूटी हुई आँखों को लिए, अँधा बना, करुणा की प्रतिमा-सा, वह रंगमंच पर आता है और अपने पश्चाताप-मिश्रित हृदयोदगारों से दर्शकों को भाव-विभोर बना डालता है।

जब मैं वह नाटक देख रहा था, मुझे अपने कुणाल की याद आ रही थी!

सबसे कठिन बात रही तिष्यरक्षिता की मनोवेदना की चित्रण की। वह अपनी मनोव्यथा किससे कहे ? विदेश में आई एक राज-कुमारी अपनी हृदय-कथा किसके सामने उड़ेले ? पाटलिपुत्र की किसी सखी या परिचारिका की क्या बात, सिंहल से उसी के साथ आई किसी दासी से भी वह मुँह खोलकर ये बातें नहीं कर सकती थी।

अतः मैंने एक नई पद्धति से काम लिया है। नाटचसाहित्य में यह पद्धति विरल है। अपने ही दर्पण में अपनी छाया को देखती हुई वह सारी बातें कह जाती है। इससे लम्बी स्वोक्ति सम्बन्धी ऊब भी नहीं आती और अभिनय के लिए पूरा मौका भी मिलता है।

मुझे सन्देह था, यह पद्धति रंगमंच पर कैसी उतरेगी। किन्तु अभी-अभी एक मित्र ने बताया है, एक विख्यात कॉलेज की कुछ लड़कियों ने जब इस नाटक का अभिनय किया, यह दृश्य बड़ा ही प्रभावोत्पादक सिद्ध हुआ।

समय के अनुसार रंगमंच में और अभिनय कला में भी परिवर्तन हो रहे हैं। मैंने इसे लिखते समय दोनों पर ध्यान रखा है।

कथोपकथन

नाटक का प्राण होता है, उसका कथोपकथन। यदि वह जानदार और जोरदार नहीं रहा, तो नाटच-कला सम्बन्धी सारी सावधानियों के बावजूद नाटक फीका-फीका रह जायगा।

अपनी भाषा और शैली पर मुझे अनायास प्रशंसा मिल चुकी है। कथोपकथन का सम्बन्ध इनसे अधिक है। यदि भाषा में प्रवाह और शैली में बाँकपन नहीं रहा, तो कथोपकथन में जान आ नहीं सकती। खुरदरे वाक्य, बोझिल शैली और लम्बे-लम्बे संलाप कथोप-कथन की हत्या ही कर डालते हैं। मैंने सदा ही इन दुर्गुणों से बचने की कोशिश की है।

कथोपकथन में कहीं, कोई ऐसा वाक्य या वाक्यांश हो, जो सारे नाटक में भिन्न-भिन्न लोगों के मुँह से भिन्न-भिन्न प्रसंगों में आवे, किन्तु वह किसी खास बात की ओर ही इशारा करे, तो यह तारतम्य समूचे शरीर में व्याप्त प्राण की तरह, उसे सचमुच प्राणवान बना डालता है।

पहले दृश्य में ही कुणाल के लिए दुर्बल, कोमल, असहाय विशेषण का जो प्रयोग हुआ, वह नाटक के अन्त तक बारबार आता है और यों सारे नाटक को एक सूत्र में बाँधता है। एकसूत्रता नाटक की सबसे बड़ी खूबी समझी जाती है।

किन्तु, इस तरह के प्रयोग के लिए बहुत कौशल चाहिए, नहीं तो बारबार का यह प्रयोग उसे भोंड़ा भी बना दे सकता है।

योंही यदि कथोपकथन में आगत घटना की ओर भी संकेत हो जाय, तो नाटक सजीव हो उठता है!

कुणाल की आँखों की सुन्दरता की चर्चा हो रही है कि वह कंचनमाला के कक्ष में प्रवेश करता है। फिर सादगी-सादगी में बताता है, इन आँखों को छोटी माताजी बहुत पसन्द करती हैं; और चाहती हैं वह सदा इन्हें देखती रहें। किन्तु, यह कैसे हो? तुम जो हो। फिर वह कह उठता है--

"कंचने, उस समय मुझे एक दिल्लगी सूझ गई। मैंने कहा, आर्ये, यदि आप इन आँखों से दूर नहीं रहना चाहतीं, तो मैं एक काम करूँ--आँखें निकालकर आपको समर्पित करता हूँ, शरीर कंचन के पास रहेगा।"

इसपर कंचनमाला व्याकुल हो जाती है! और, उसकी व्याकुलता कैसी सार्थक सिद्ध होती है।

यदि स्वभावतः ही कुछ सूक्तियाँ कथोपकथन में आ जाय, तो वह आभूषण के रत्नों की तरह उसकी शोभा को और भी चमका देती है।

"कभी सुन्दरतम वस्तु ही संसार में सर्वनाश का कारण बन जाती है।"

"घर छोड़ना, पति या पुत्र छोड़ना उतना कठिन नहीं है, जितना सच्चे कलाकार के लिए, कला का त्याग करना--सच्चे कलाकार के लिए कला उसके जीवन की साँस होती है।"

"हँसी और रुदन--जुड़वे भाई-बहन हैं।"

"जवानी की राह फिसलन-भरी है, तो उसके पैरों में शक्ति और दृढ़ता भी है।"

"बुढ़ापा--जिन्दगी की लाश!"

"जितना ही आदमी धर्म की ओर प्रेरित हो, समझ, उसके हृदय में कहीं उतनी ही बड़ी अशान्ति है!"

"हर कहने में कुछ-न-कुछ मानी छिपा रहता ही है!"

"खंडहर बताता है, इमारत बुलन्द रही होगी।"

"जो मानव का अपमान करता है, वह राक्षस पाता ही है।"

"भिखारी के लिए नाम क्या, धाम क्या?"

"पवित्र-से-पवित्र धरोहरों की भी चोरी होती आई है।"

"क्या कला भी अंधी होती है?"

"ममता मनुष्य की सबसे बड़ी कमजोरी है।"

"किसी भी महान यज्ञ में सुन्दरतम की बलि देकर ही पूर्णाहुति की जाती है।"

ये सब सूक्तियाँ इस नाटक के लिए शृंगार का काम करती होंगी, ऐसा मेरा विश्वास है।

किन्तु; सच कहता हूँ, ऐसी सूक्तियाँ प्रसंगवश आप-से-आप

आ गई है। जहाँ प्रयत्न करके सूक्तियाँ लाने की चेष्टा होगी, कथोप-कथन का सारा शीराजा बिखर जायगा !

भाषा और शैली

भाषा के रूप को लेकर हिन्दी-संसार में कुछ दिनों से एक अँधेर-खाता चल रहा है।

एक जमाना था, जब हिन्दी को उर्दू से मिला-जुला कर एक नई भाषा गढ़ने की कोशिश की गई थी और उसका नाम रखा गया था--हिन्दुस्तानी !

अब हिन्दी में संस्कृत ठूसठाँस कर एक नई भाषा गढ़ी जा रही है और इसके एक प्रबल समर्थक ने इसके लिए एक नया नाम भी पेश कर दिया है--भारती !

हिन्दुस्तानी और भारती की दुहरी पात में बेचारी हिन्दी पिस रही है।

इन दो छोरों से बचने की मैंने हमेशा कोशिश की है। हमारा बिहार सदा मध्यम मार्ग का अनुयायी रहा है न ?

और; इतिहास ने अब तो सिद्ध कर दिया है कि हिन्दी भाषा का जन्म इन मध्यम मार्ग के अनुयायियों द्वारा इसी बिहार-भूमि में हुआ था।

अभी उस दिन पूना में था, तो एक विद्वान मराठी मित्र ने एक बड़े पते की बात कही !

उन्होंने कहा--दिल्ली और लखनऊ, हिन्दी को उर्दू की ओर घसीट कर ले जाना चाहते हैं, और काशी और प्रयाग संस्कृत की ओर! हिन्दी का स्वाभाविक रूप तो बिहार में ही देखने में आता है और इसके प्रमाण में उन्होंने पूज्य राजेन्द्र बाबू की आत्म-कथा से लेकर हमलोगों की रचनाओं तक के भी कुछ नाम गिनाये।

मैंने अपने मित्र के कथन में अपने प्यारे बिहार और उसके साहित्यकारों के प्रति एक महान उत्तरदायित्व का बोध किया।

हिन्दी का इतिहास बताता है, जनता की भाषा के रूप में ही हिन्दी का जन्म हुआ था और मेरी निश्चित आशंका है, ज्योंही वह जनभाषा के पद को छोड़कर कुछ विशिष्ट व्यक्तियों औयर समूहों की भाषा बनेगी, संस्कृत की तरह उसकी भी मृत्यु होकर रहेगी।

एक दिन संस्कृत भी राजभाषा थी; अतः हमें यह इस भ्रम में नहीं रहना चाहिए कि, राजाश्रय ही हिन्दी को जीवित रख सकेगी।

जन-जीवन से निकटतम सम्पर्क ही किसी भाषा की वृद्धि और विकास का प्रधान कारण होता है।

फिर नाटक की भाषा तो ऐसी होनी ही चाहिए, जिसे जनता आसानी से समझ सके, नाटक का यथार्थ रसास्वादन कर सके।

क्योंकि नाटक दृश्य काव्य है, तो उसके दर्शकों में साधारण जनता को कैसे बाद दिया जा सकता है?

"नेत्रदान" में भी, अपनी अन्य रचनाओं की तरह, मैंने इस बात पर सदा ध्यान रखा है।

जो लोग समझते हैं कि उत्कृष्ट रचना के लिए क्लिष्ट भाषा का प्रयोग करना अनिवार्य है, उनकी समझ-बूझ पर मुझे तरस आती है।

संसार के जितने बड़े साहित्य-स्रष्टा हुए हैं, उनकी भाषा ऐसी रही है कि, साधारण जन भी उसका स्वाद ले सकें।

फिर, मुझे यह सदा याद रहा है कि, मेरी रचनायें सबसे पहले मेरे बाल-बच्चों ही पढ़ा करते हैं। छपती तो हैं, ये पीछे; मूल प्रति के रूप में ही वे उसे पढ़ने के लिए छीना-झपटी करने लगते हैं।

अतः भाषा में सरलता और भावों में शिष्टता का मझे सदा स्मरण रहा है।

फिर एक बात और ! चूंकि मैं भाषा का आदिस्रोत जनता को मानता हूँ, अतः जनता में प्रचलित शब्दों और मुहावरों को लेने
को मानता हूँ, अतः जनता में प्रचलित शब्दों और मुहावरों को लेने
में मुझे जरा भी झिझक नहीं होती है।

यह मैं अपना सौभाग्य मानता हूँ कि बिहार की जनता की जिह्वा पर चढ़े मजे-मजाये कितने शब्दों और मुहावरों को मेरी रचनाओं द्वारा साहित्य में प्रवेश करने का सुअवसर प्राप्त हुआ है !

"नेत्रदान" में भी ऐसे शब्दों और मुहावरों की कमी नहीं है।

मैं चाहता हूँ, यह मेरी हार्दिक कामना है, कि बिहार की अगली पीढ़ी के लोगों में यह प्रवृत्ति दिन-दिन बढ़े।

रही शैली की बात ! शैली तो व्यक्तित्व का एक अंश होती है। व्यक्तित्व के विकास के साथ ही शैली का विकास होता है। होते-होते वह दिन भी आता है कि बिना नाम-मुहर के भी, लाखों के बीच, व्यक्तित्व की ही तरह, शैली भी आप-से-आप पहचानी जा सकती है।

यह मेरा दूसरा सौभाग्य ह कि मेरी शैली भी हिन्दी संसार में एक विशिष्ट स्थान बना सकी है।

छोटे-छोटे वाक्य, चलते-फिरते मुहावरे, साफ-सुथरे शब्द, यहाँ तक कि छोटे-छोटे पैराग्राफ को मैं उत्तम शैली के प्रमुख उपादान मानता हूँ।

शैली --शैली अभ्यास खोजती है। और व्यक्तित्व के निर्माण की तरह शैली का निर्माण भी प्रारम्भ में कुछ पथ-प्रदर्शन चाहता है।

यह धृष्टता मैं नहीं कर सकता कि मेरी शैली का अनुसरण किया जाय, सिर्फ यही कहूँगा कि यदि प्रारम्भ से ही ऐसी चेष्टा की जाय तो हर व्यक्ति अपने लिए उपयक्त शैली का निर्माण कर सकता ह।

मैं अपनी भावी पीढ़ी से यह आशा करता हूँ कि वह इस ओर भी सदा सचेष्ट रहेगी।

एकांकी

चलते-चलाते यह भी जान लेना हैं कि यह नाटक का छोटा रूप एकांकी है।

जिस तरह काव्य के बाद खंडकाव्य की ओर प्रवृत्ति बढ़ी और उपन्यास की जगह कहानियाँ ले रही हैं, उसी प्रकार नाटक के क्षेत्र में एकांकी भी अपना स्थान बना रहा है।

समय और सुविधा, दोनों ही, लोगों की प्रवृत्ति को छोटी चीजों की ओर खींच रहे हैं।

नाटक में कई अंक होते हैं, एक-एक अंक में कई दृश्य होते हैं—यद्यपि अब रंगमंच पर ध्यान देकर एक ही दृश्य में एक अंक समाप्त करने की चेष्टा की जाती है।

किन्तु, एकांकी में एक ही अंक होता है और उसी के अन्दर कई दृश्यों में उसे समाप्त किया जाता है।

जहाँ नाटक में कथा का फैलाव होता है, पात्रों की भरमार होती है, वहाँ एकांकी में किसी बड़ी घटना का एक ही पक्ष ले लेते हैं और उसे कुछ ही पात्रों द्वारा अभिव्यक्त करते हैं।

हिन्दी में धीरे-धीरे एकांकी नाटकों का चलन बढ़ता जा रहा ह।

खासकर स्कुलों और कॉलेजों के लिए तो एकांकी बहुत ही उपयुक्त होता है, क्योंकि थोड़े से पात्र-पात्रियों और कम साधनों से ही इन्हें खेल लिया जा सकता है।

अध्ययन-अध्यापन में भी एकांकी में बहुत सुविधायें हैं।

कोमल मति किशोरों के मस्तिष्क में एकबारगी अनेक पात्रों के चरित्र भरने की चेष्टा उन्हें भ्रमजाल में डाल दे सकती है। एकांकी

द्वारा पहले उनमें नाटक के प्रति रुचि पैदा की जाय, फिर उनके सामने पूरे नाटक रखे जायें।

यों तो मैं मानता हूँ कि ऐसे नाटक भी हो सकते हैं, जो अनेक अंकों और दृश्यों के बावजद किशोरों के लिए बहुत ही उपयुक्त हों और उन्हें भी कम साधनों के साथ खेला जा सकता हो।

"नेत्रदान" का जो विषय है, उसपर बड़े-बड़े काव्य, आख्यान, नाटक लिखे जा सकते हैं--लिखे भी जायेंगे। परन्तु मैंने जानबूझ कर इसे एकांकी में ही भरने की कोशिश की है।

गागर में सागर भरना आसान नहीं है, परन्तु यदि इससे सफलता मिली, तो यह एक कमाल ही माना जा सकता है।

कमाल का मेरा दावा नहीं, किन्तु मझे इसका सन्तोष अवश्य है कि "नेत्रदान" ने इस करुण घटना को एक नये रूप में अवश्य प्रस्तुत किया है।

यह दीवाल पर की बड़ी और बहुरंगी चित्रकारी नहीं; किन्तु हाथी-दाँत पर की एक छोटी-सी चमकती तस्वीर जरूर बन गई है।

अन्त में

मेरी आँखों के सामने दुनिया का जो नक्शा है, वह बड़ा ही सुन्दर और मोहक है।

गेहूँ से गुलाब की ओर--एक वाक्यांश में वह नक्शा यह है।

मेरा विश्वास है आज जो अन्नाभाव है, नंगापन है, गरीबी है, गंदगी है, अज्ञान है, अविचार है; स्वतंत्र भारत में, हम सबके प्रयत्नों से, ये सब शीघ्र दूर होंगे।

और, इनके स्थान में सुख, ऐश्वर्य, स्वास्थ्य, स्वच्छता, ज्ञान-विज्ञान, कला, साहित्य--सब की दिन-दिन वृद्धि होती जायगी।

यही दुनिया मेरी गुलाब की दुनिया होगी--जहाँ चारों ओर मस्ती होगी, आनन्द होगा, उल्लास होगा, हास्य होगा !

आज हमें फुर्सत कहाँ कि आनन्द भी मना सकें। किन्तु, उन दिनों हम अधिकाधिक इस ओर प्रवृत्त होंगे।

तब हम अधिक कविता चाहेंगे, संगीत चाहेंगे, नाटक चाहेंगे, नृत्य चाहेंगे।

जैसा शुरु में ही कह चुका हूँ, बिहार के लिए यह सौभाग्य की बात है कि उसका प्राचीन इतना महान और रंगीन है कि उसके बेटों और बेटियों को इन सबके लिए पात्र या पात्रियाँ चुनने में कठिनाई नहीं होगी।

हमारा प्राचीन इतिहास सदा भारतीय साहित्य को उत्तमोत्तम पात्र और पात्रियाँ देता रहा है। यह हमें भी देता रहेगा।

अभी हमारे इतिहास के कितने ही सुनहले पृष्ठ बंद ही पड़े हैं। किन्तु, जिनपर रचनायें हो चुकी है, मुझे लगता है, हमें फिर से उनपर भी अपनी कलम या कूंची का प्रयोग करना पड़ेगा !

दो उदाहरण लीजिये—सीता और चन्द्रगुप्त !

एक भवभूति को बाद दीजिये, तो क्या सीता की करुण कथा को उस गौरव के अनुरूप चित्रित किया जा सका है, जिसकी वह अधिकारिणी है !

और, क्या यह बात सही नहीं है कि चन्द्रगुप्त के नाम से आज तक चाणक्य की महत्ता का ही चित्रण होता रहा ?

मेरा विश्वास है, बिहार की आनेवाली पीढ़ी अपने पूर्वजों की कीर्त्ति को उनके गौरव के अनुरूप ही कला-रूपों में ढालेगी।

"नेत्रदान" उस सुनहले भविष्य की ओर एक अंगुली-निर्देश मात्र है !

यदि इसने ऐसी प्रेरणा हमारे किशोरों और किशोरियों में भरी, तो समझूंगा, मेरी मेहनत सफल हुई।

पात्र-पात्रियाँ

पात्र :

कुणाल

सम्राट् अशोक का कनिष्ट पुत्र

महेन्द्र

सम्राट् अशोक का ज्येष्ठ पुत्र

पात्रियाँ

संघमित्रा

सम्राट् अशोक की पुत्री

तिष्यरक्षिता

सिंहल-नरेश की पुत्री : अशोक की नई रानी

कंचनमाला

कुणाल की पत्नी

परिचारिका
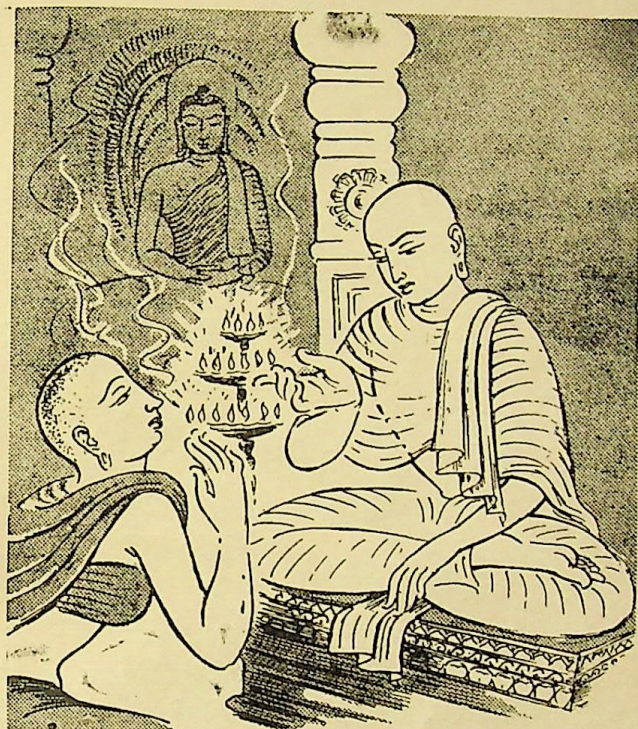
पहला दृश्य

सिंहल द्वीप का एक संघाराम। रात काफी बीत चुकी है। भक्तों की भीड़ छँट गई है।

संघाराम के मध्य-भाग में स्थित भिक्षु महेन्द्र का विहार। महेन्द्र अपने आसन पर अर्द्धध्यानवस्थित अवस्था में बैठे हैं। उनसे थोड़ी दूर पर भिक्षुणी संघमित्रा बैठी है।

विहार के एक कोने में एक द्वीप-दंड पर शत-वर्तिका द्वीप जल रहा है। उनकी कुछ बत्तियाँ बुझ चुकी हैं।

शेष की लौ भी अब धीरे-धीरे धीमी होती जा रही है।

महेन्द्र की पलकें जरा हिलती हैं। संघमित्रा उनसे पूछती है——

संघमित्रा——कुछ सुना है, भैया ?

महेन्द्र——(कुछ बोलते नहीं ; आँखें जरा खुलती-सी)

संघमित्रा——सुना है भैया, रक्षिता को....

महेन्द्र——(आँखें खोलते हुए) क्या ?

संघमित्रा——राजकुमारी रक्षिता को सिंहल-नरेश पाटलिपुत्र भेज रहे हैं।

महेन्द्र——(जैसे चौंककर) रक्षिता को ? पाटलिपुत्र ?

संघमित्रा——हाँ, भैया ! सिंहल-नरेश महाराज तिष्य, अपनी एक-मात्र प्यारी पुत्री को पिताजी की सेवा में पाटलिपुत्र भेज रहे हैं।

महेन्द्र——क्या कह रही हो, मित्रे ?

संघमित्रा——हाँ, हाँ, भैया, रक्षिता पाटलिपुत्र जानेवाली है। अभी संध्या समय उसकी एक परिचारिका संघराम में आई थी——हमारी संध्या-अर्चना में सम्मिलित होने। अर्चन के बाद, उसने मुझे एकान्त में बताया——यद्यपि इसकी सूचना अभी जन-साधारण को नहीं दी गई है, किन्तु सिंहल-नरेश ने यह निश्चय कर लिया है और रक्षिता को यात्रा की तैयारी करने का आदेश दे दिया है।

महेन्द्र——(लम्बी साँस के साथ) हूँ !

संघमित्रा——(साश्चर्य) भैया, यह लम्बी साँस ; यह हूँ ! क्या आपको इस समाचार से प्रसन्नता नहीं हुई, भैया ! भैया, मैं तो, जबसे यह खबर मिली, आनन्द-विह्वल हुई जा रही हूँ ! कहा ! रक्षिता पाटलिपुत्र जा रही है।

पाटलिपुत्र--हमारी प्यारी राजधानी, जिसके चरणों को स्वयं गंगा-मैया, अपनी सारी सहायक नदियों से राजस्व लेने के बाद, दिन-रात पखारा करती हैं--जिसके नागरिक-नागरिकाओं के सारे शारीरिक और मानसिक कलुषों को धो-धोकर वह उन्हें शाश्वत जीवन और यौवन प्रदान करती है ! अहा, हमारा पाटलिपुत्र ! भैया, हमारे उस नगर में कितना जीवन है, यौवन है।

महेन्द्र--हाँ, जीवन है, यौवन है ! फिर उसाँस लेते हैं)

संघमित्रा--(कल्पना के उछाह में उसाँस पर ध्यान न देती हुई) और, भैया, उस जीवन और यौवन में जब रक्षिता की कला का समावेश होगा ! अहा ! सिंहल की कला से पाटलिपुत्र और भी सुन्दर, सुखद और मुखर हो उठेगी भैया ! आपने देखा है न ? रक्षिता--कैसी नाचती है, कैसी गाती है, कैसी बजाती है ! और वह सुन्दर भी कितनी है, भैया ?

महेन्द्र--पगली ! कभी सुन्दरतम वस्तु ही संसार में सर्वनाश का कारण बन जाती है !

संघमित्रा--(चौंकती हुई) सर्वनाश का कारण.....सुन्दरतम वस्तु ! भैया, आप यह क्या कह रहे हैं ?

महेन्द्र--कोई विशेष बात नहीं--संसार का एक प्रकटतम तथ्य-मात्र ! सोचो न--कहीं रक्षिता के ये गुण ही पाटलिपुत्र के लिए अमंगल सिद्ध हो गये तो ?

संघमित्रा--(भयत्रस्त-सी) अमंगल ! रक्षिता के ये गुण अमंगल ! अमंगल ! उफ, मैं तो सोच रही थी कि अच्छा ही हुआ कि जब पिताजी ने मुझे यहाँ भेजा, तो महाराज तिष्य

अपनी पुत्री को पाटलिपुत्र भेजें ! शिष्टाचार का नियम भी तो....

महेन्द्र--(बीच में ही बात काटकर) शिष्टाचार का नियम ! मित्रे, क्या तुम इतना भी नहीं देख पाती कि तुम्हारे यहाँ आने और रक्षिता के वहाँ जाने में क्या अन्तर है ? तुम यहाँ आई हो तथागत के शान्ति-धर्म का प्रचार करने ; भिक्षुणी बनकर ! किन्तु रक्षिता क्यों भेजी जा रही है ; किस रूप में भेजी जा रही है ? यह भिक्षुणी बनाकर नहीं भेजी जा रही है, यह तो स्पष्ट ही है !

संघमित्रा--हाँ, यह बात तो है, भैया ! तो भैया, क्या आपको इसकी खबर पहले से थी ?

महेन्द्र--थी ! महाराज तिष्य ने मझसे इस बारे में राय ली थी। मैंने उदासीनता प्रकट की। इस उदासीनता को उन्होंने मेरा संकोच मान लिया। किन्तु, मित्रे, तबसे मैंने जितना ही सोचा है, मुझे चिन्ता-ही-चिन्ता हो रही है। रक्षिता वहाँ भिक्षुणी बनाकर नहीं भेजी जा रही है। यह युवती है, सुन्दरी है, कला की आचार्या है ! भले ही वह सम्राट की सेविका कहकर भेजी जा रही हो ; किन्तु, यदि उसमें महत्वाकांक्षा जगे....(रुक जाते हैं)।

संघमित्रा--महत्वाकांक्षा जगे ? (चौंकती-सी) और वह सम्राज्ञी बनना चाहे ! क्यों भैया ? ओहो, रक्षिता हमारी माताजी की सौत बनेगी ? सौत....

महेन्द्र--हमारी माताजी की सौत ! ह-ह-ह (उपेक्षा की हँसी) मित्रे, रक्षिता क्या खाकर उनकी सौत बन सकेगी ? हाँ, सम्राज्ञी वह बन सकती है। जिस पद को पैरों से ठुकरा

कर माताजी विदिशा बैठी हैं, रक्षिता उस जूठी पत्तल को पाटलिपुत्र में चाट सकती है। इसके लिए माताजी को तनिक भी दुःख नहीं होगा; और न यह मेरे, तुम्हारे या किसी और के लिए चिन्ता का विषय है।

संघमित्रा--तो और किस बात की चिन्ता हो सकती है, भैया ?

महेन्द्र--पिता जी वृद्ध हैं--दिनरात धर्म-कार्यों में रत; शासन-कार्यों में व्यस्त ! वह घरेलु मामलों में न ध्यान देते ह, और न देंगे। इधर क्या रक्षिता सम्राज्ञी बनकर ही सन्तुष्ट हो जायगी ? वह युवती है, सुन्दरी है, कला की आचार्या है ! कला ! सौन्दर्य ! यौवन !--तीन-तीन अमोघ अस्त्र ! कुछ भी अनर्थ हो सकता है, मित्रे !

संघमित्रा--कला, सौन्दर्य, यौवन ! हाँ, कुछ भी अनर्थ हो सकता है, भैया ! (भयभीत-सी होती है)

महेन्द्र--किन्तु, इस प्रसंग में पिताजी को नहीं लाना; और न मैं साम्राज्य के लिए ही कोई संकट देख रहा हूँ। पिताजी सांसारिकता से बहुत ऊँचे उठ चुके हैं और मौर्य-साम्राज्य की नींव अब शेषनाग की पीठ पर जा चुकी है। मुझे कुछ चिन्ता है, तो एक दूसरे ही कोमल, दुर्बल, असहाय प्राणी के लिए।

संघमित्रा—दुर्बल ? कोमल ? असहाय ? (आश्चर्य में) वह कौन प्राणी है, भैया ?

महेन्द्र--तुम भूल गई उसे ?

संघमित्रा—(स्मरण की चेष्टा में) दुर्बल, कोमल....

महेन्द्र—कुणाल !

संघमित्रा--(जैसे चिल्ला पड़ती है) कुणाल भैया ! दुर्बल, कोमल, ...कोमल....असहाय ! हाँ, कुणाल भैया, कोमल

हैं, दुर्बल हैं, असहाय हैं--उन्हें माताजी ने छोड़ दिया, हमने छोड़ दिया--हाँ, हाँ, दुर्बल, कोमल, असहाय ! क्या रक्षिता उनपर प्रहार करेगी भैया ?

महेन्द्र--सिंह के शिकार से लौटा हुआ शिकारी रास्ते में हिरण पाकर उसे नहीं छोड़ता, मित्रे ! दुर्बल, कोमल, असहाय सदैव दया ही नहीं उत्पन्न करते, हिंस्र प्रवृत्ति को भी उद्दीप्त करते हैं ।

संघमित्रा--ओह, भैया, भैया, इसे रोकिये, रोकिये ! कुणाल भैया को बचाइये, बचाइये ! . . . .

महेन्द्र--(गम्भीर होकर) मित्रे, हम एक अजीब युग से गुजर रहे हैं । बहुत-सी असंभव घटनायें, हमारी-तुम्हारी आँखों के सामने घट चुकीं ! क्या हम-तुम उन्हें रोक सके ? उलटे हमीं उनके प्रवाह में बह गये। शायद घटनाओं का यही स्रोत बेचारी रक्षिता को घसीट कर पाटलिपुत्र ले जा रहा है ! रह-रहकर चिन्तायें आ घेरती हैं, किन्तु इन बातों में अधिक सिर खपाना क्या हमारे भिक्षु-जीवन के लिए उपयुक्त है ? हम अपने कर्त्तव्य-पथ पर बढ़ते चलें ; देखें, युग-प्रवाह हमें क्या-क्या दिखाता है !

संघमित्रा--उफ, कुणाल भैया ! दुर्बल, कोमल, असहाय. . .ओह ! ओह ! (मुँह ढँककर सिसकियाँ लेती है)

महेन्द्र--मित्रे, चिल्लाने से, रोने-धोने से कुछ नहीं होने-जाने का । कलिंग में हमने जो हत्यायें कीं, रक्त बहाया ; अभी शायद उसका पूरा प्रायश्चित नहीं हो पाया है ! पिता जी चेष्टा में लगे हैं ; हम-तुम अपने को तपा रहे हैं . . . .किन्तु, किन्तु ! . . .किन्तु, छोड़ो इन बातों को। जाओ, अपने विहार में जाओ, सोओ। रात काफी बीत चुकी है ।

शतवर्त्तिका की सभी बत्तियाँ बुझ चुकीं, सिर्फ एक बाती बाकी है, उसे भी बुझाती जाओ. . . .

(संघमित्रा आँसू पोंछती हुई उठती है। दीपक की ओर बढ़ती है। उसकी आँखों से अचानक आँसुओं की धारा फूट पड़ती है। जब वह झुककर दीपक बुझा रही है, आँसू की एक बुँद उसकी लौ पर गिरती है--दीपक बुझ जाता है--वह चीख उठती है--घोर अन्धकार !)
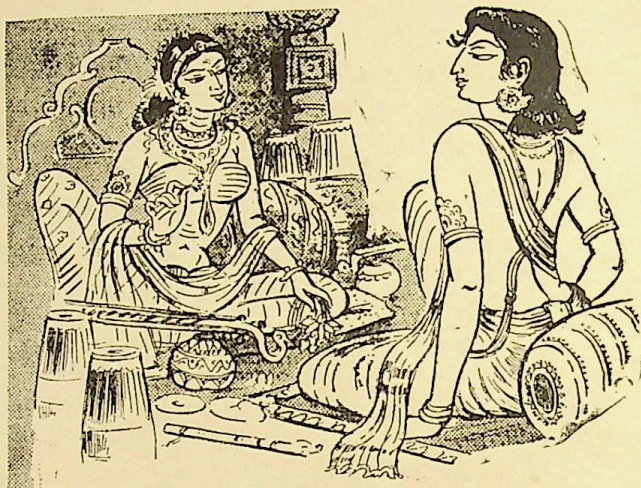
दूसरा दृश्य

(पाटलिपुत्र का राजप्रासाद। तिष्यरक्षिता का विलास-कक्ष। संगीत के साधन-उपसाधन इधर-उधर सजा कर रखे गये हैं। बीच में रक्षिता बठी है--शृंगार-प्रसाधनों से मंडित। सामने कुणाल बैठा हुआ है। रक्षिता के मुख-मंडल पर हार्दिक उथल-पुथल की छाया। कुणाल के चेहरे पर सादगी और सौम्यता खेल रही है)।

कुणाल--तो, भैया वहाँ क्या करते हैं, आर्य?

रक्षिता--आपके भैया! कुमार, आह, वह क्या मनष्य हैं? नहीं, नहीं, वह तो देवता हैं। सारा सिंहल उन्हें देवता की तरह पूजता है। और क्यों न पूजे? क्या उनका व्यवहार साधारण भिक्षु-सा होता है? वह तो एक साथ ही भिक्षु, चिकित्सक, सेवकक्या-क्या नहीं हैं? जहाँ कहीं अज्ञान है, पीड़ा है, दुःख है, शोक है, वहाँ भिक्षु महेन्द्र उपस्थित! अभी उस साल हमारे देश में महामारी

फैली--अपनेको अपना नहीं पूछता था ! किन्तु, आपके भैया !--अहा ! कहीं दवा दे रहे ; कहीं परिचर्या कर रहे !--गंदगी को अपने हाथ से धोने और शवों को ढोकर उनका अंतिम संस्कार करने में भी उन्हें संकोच न होता था। आप जुटे थे ; भिक्षुओं को जुटा रखा था। सारा सिंहल उनके धन्य-धन्य से गुँज उठा !

कुणाल--मेरे भैया ऐसे ही हैं, आर्ये ! वह जिस ओर मुड़ेंगे, कमाल कर दिखायेंगे। भैया ! (भावनाविभोर होकर प्रणाम करता हुआ) प्रणाम भैया ! और मेरी मित्रा--आपलोगों की संघमित्रा--वह क्या करती रहती है, आर्ये ?

रक्षिता--देवी संघमित्रा सारे सिंहल की आराध्या बन चुकी है। उनके शील और सेवा पर सारा सिंहल मुग्ध है। सब कहते हैं, कैसा होगा वह देश, जिसमें देवी संघमित्रा जैसी नारियाँ उत्पन्न होती हैं ?

कुणाल--आह, मेरी नन्हीं बहन ! (लम्बी साँस लेता है)

रक्षिता--कुमार, संघमित्रा जैसी बहन पर क्या 'आह' करने की आवश्यकता है ? ऐसी बहन तो संसार में सबको मिले--जो कुल को उज्वल करे, देश को उज्वल करे, विदेश को उज्वलता दे ! देवी संघमित्रा को देखकर ही तो मुझे आपके देश में आने की प्रेरणा मिली ; उनकी स्मृति में ही मेरा सिर झुक जाता है, कुमार ! (हाथ जोड़कर प्रणाम करती है।)

कुणाल--आह, मित्रा ने क्या-क्या नहीं छोड़ा ? खिलौना-सा पुत्र ; देवता-सा पति ; स्वर्ग-सा घर ! किन्तु, यह तो सब कोई जानते हैं। आर्ये, मेरी समझ में मित्रा का सबसे बड़ा त्याग था, अपनी कला का सदा के लिए परित्याग

कर देना ! घर छोड़ना, पति या पुत्र छोड़ना उतना कठिन नहीं है, जितना सच्चे कलाकार के लिए कला का त्याग करना। सच्चे कलाकार के लिए, उसकी कला जीवन की साँस होती है। आर्ये, सिंहल ने मेरी बहन का सिर्फ ढाँचा-मात्र पाया है, अपने प्राण को वह यहीं गंगा-मैया को समर्पित कर गई ! उफ ! उस दिन, अपने सारे वाद्य-यंत्रों और संगीत-साधनों को किस प्रकार उसने निर्ममता से गंगा के जल में डाल दिया--एक-एक कर उन्हें उठाती, चूमती, सिर से लगाती और फिर काँपते हाथों से....
(आँखों में आँसू आ जाते हैं, गला रुँध जाता है)

रक्षिता--(उसकी आँखें भी छलछला जाती हैं) हाँ, कुमार, कलाकार के लिए, सबसे बड़ा त्याग है, कला का परित्याग ! इतना बड़ा त्याग कर ही तो देवी संघमित्रा ने अपने को इतिहास के लिए अमर बना लिया है। देवी संघमित्रा कभी गाती, बजाती और नाचती भी होंगी, इसका अनुमान तो वहाँ मुझे प्रायः होता था। साधारणतः चलते-फिरते समय भी, मैं उनके पदों में एक सूक्ष्म प्रकार की समगति पाती थी; उसकी मामूली बातचीत में भी अदभुत स्वर-संधान का आभाष मिलता था; और उनकी उँगलियाँ, जहाँ भी ताल और लय मिले, वहाँ सहज ही नृत्यशील हो उठती थीं ! सचमुच, कला सच्चे कलाकार के लिए जीवन की साँस होती है, कुमार !

कुणाल--आप ही इसे अच्छी तरह समझ सकेंगी, क्योंकि आप भी कलाकार हैं न ? (संगीत-साधनों पर दृष्टि डालते हुए) आप अपना देश छोड़ आईं, किन्तु क्या इन्हें छोड़ सकीं ?

रक्षिता--आह, इन्हें छोड़ पाती ! (उसाँस लेती है)

कुणाल--क्यों, इससे तो कुछ मन ही बहलता होगा !

रक्षिता--कुमार, कला अपने लिए वातावरण चाहती है ! यहाँ तो..

कुणाल--हाँ, हाँ, भैया कहा करते थे, यह राजप्रासाद नहीं, बौद्ध-विहार हो चला है ! और जबसे मित्रा गई, यह तो पूरा बौद्ध-विहार हो गया है ! मैंने भी गाना-बजाना छोड़ दिया है, आर्ये !

रक्षिता--छोड़ चुके होंगे ! देवी संघमित्रा ने छोड़ दिया..... आने भी.....

कुणाल--नहीं, नहीं, आर्ये ! कहाँ मित्रा, कहाँ मैं ! वह महाप्राण थी और मैं....दुर्बल....! आह, गजब कभी बादल गरजते हैं, पिकी कूकती है, भौंरे गुँजते हैं, कलियाँ चटखती हैं—हृदय आकुल हो उठता है ! कण्ठ में एक सुरसरी, उँगलियों में एक तरह की झिनझिनी अनुभव करने लगता हूँ ! कहाँ मित्रा, कहाँ मैं ! वह महाप्राण; मैं दुर्बल..

रक्षिता--सभी कलाकार दुर्बल और कोमल होते हैं, कुमार !

कुणाल—दुर्बल और कोमल ! हाँ, हाँ, आपको यह वातावरण खलता होगा !

रक्षिता—इसे तो मैंने स्वयं अपनाया है, फिर मैं किससे शिकायत करूँ ? क्यों करूँ ? किन्तु....(आँखें भर आती हैं)

कुणाल—आप की स्थिति का कुछ अनुभव कर सकता हूँ, देवी ! देश से दूर--स्वजन-परिजन से दूर....

रक्षिता—(व्याकुल होती है) कुमार--कुमार ! बात मत बढ़ाइये। मैं उसे भुलाने की कोशिश में हूँ, कुमार। उफ्, कभी-कभी ऐसा लगता है ; कलेजा मुँह को आ रहा हो ! यह एकान्त; यह गला दबोचनेवाला सन्नाटा....आह ! (आँखों की अश्रुधारा आँचल से पोंछती है)

कुणाल—तो आर्ये, एक निवेदन! क्यों न मैं कभी-कभी आ-जाया करूँ और संगीत-साधना में आपका कुछ साथ दूँ? कला हमारी ढाल, हमारी रक्षक भी तो है!

रक्षिता—(कुछ प्रसन्न मुद्रा में) कुमार, कुमार! हम कलाकार एक-दूसरे के हृदय के कितने निकट होते हैं। आपने तो जैसे मेरी ही बात छीन ली! किन्तु, कुमार...छोड़िये! उसे भुलाने ही दीजिये! जिस घाव को भरना है, उसे फिर कुरेदने से...(अचानक रुक जाती है और ऊपर देखने लगती है)

कुणाल—देवि! एक बात कहूँ! इसमें मेरा स्वार्थ भी है। आपके निकट जब-जब आता हूँ, मालूम होता है, अपने भाई-बहन के निकट पहुँच गया। लगता है, भैया ने, मित्रा ने आपको अपना प्रतीक बनाकर यहाँ भेजा है! आर्ये, आप कल्पना नहीं कर सकतीं, कि भैया मुझे कितना मानते थे! और मित्रा...वह मुझसे कभी दूर होती थी? आर्ये! मालूम होता था, जैसे हम जुड़वें भाई-बहन हों—बचपन में एक साथ खाया, सोये; जवानी में एक साथ गाया, रोये!

रक्षिता—रोये?

कुणाल—(हँसकर) हाँ, हाँ, आर्ये, हम कभी-कभी साथ-साथ रो भी लेते थे। हँसी और रुदन भी जुड़वें भाई-बहन हैं न आर्ये! क्यों? (मुस्कराता है)

रक्षिता—(उदास होकर) भगवान किसी को रुदन न दें।

कुणाल—(उसी तरह मस्ती में) किन्तु, उससे बचा कौन है, आर्ये! देख रहा हूँ, रह-रहकर आपकी आँखों में भी झाँक आती है। वह...वह...वह! (उँगली से रक्षिता की डबडबाई आँखों की ओर इंगित करता हुआ मुस्कुराता है)

रक्षिता—(गहरी साँस लेती हुई) ओह, कुमार! इसकी चर्चा मत कीजिये, कुमार! (हथेलियों से आँखें ढाँप लेती है)
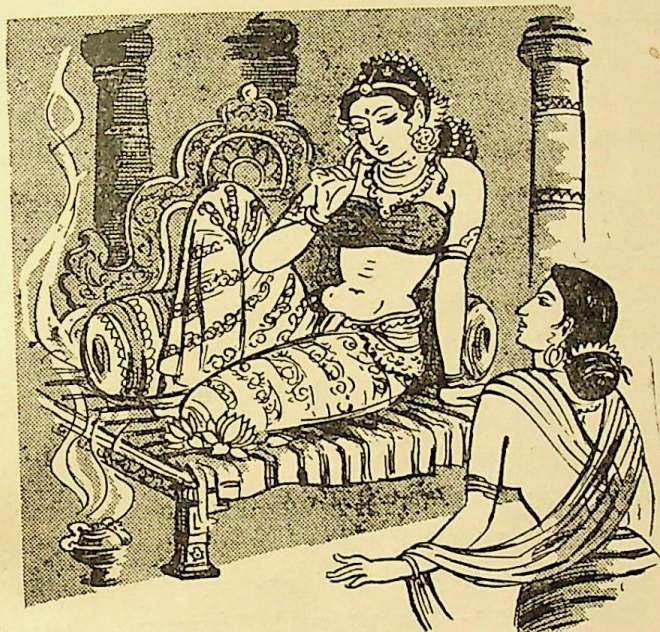
तीसरा दृश्य

(कंचनमाला का कक्ष। वह विषण्ण, विह्वल-सी बैठी है। रह-रहकर उसाँसे लेती है। परिचारिका आती है और धीरे-धीरे कंचनमाला के निकट पहुँचती है।)

परिचारिका——देवि, इधर आप बहुत उदास....

कंचनमाला——(बीच ही में बात काटकर) कुमार कहाँ हैं?

परिचारिका——छोटी सम्राज्ञी के कक्ष में होंगे भद्रे! हाँ, हाँ, वहीं हैं! सुनिये न वह संगीत-ध्वनि....(संगीत की झंकार सुनाई पड़ती है)

कंचन——यह दिनरात का संगीत!

परिचारिका--अच्छा है, भद्रे, अच्छा है। मंत्रों की बुदबुदाहट से कान पक गये थे--अच्छा हुआ, छोटी सम्राज्ञी ने फिरसे इस घर में संगीत-नृत्य की प्रतिष्ठा की। आपको भी तो संगीत बहुत प्रिय था, भद्रे! आप भी इसमें क्यों नहीं सम्मिलित होतीं? देवि! आपका और कुमार का सम्मिलित गीत-नृत्य तो कितने दिन हो गये!

कंचन--(परिचारिका से) पिछली बातों को मत छेड़। गया हुआ आदमी लौट भी आये, जो दिन गये--गये!

परिचारिका--(गंभीर होकर) अँधी नहीं हूँ, भद्रे! सब-कुछ देख रही हूँ! हाँ, बात कुछ सीमा से बाहर जा रही है! तो आप कुमार से क्यों नहीं कहतीं कि मर्यादा का अतिक्रमण....

कंचन--क्योंकि मैं कुमार को जानती हूँ। कुमार कलाकार हैं, कलाकार बीच में रुक नहीं सकता। कलाकार को सबसे अधिक आनन्द मिलता है सीमा का अतिक्रमण करने से। कलाकार--सीमा का शत्रु! (कुछ रुककर, सोचकर) शायद यह उसके लिए आवश्यक भी हो! यदि वह ऐसा न करे, तो कला की अभिवृद्धि ही रुक जाय--वह जहाँ-की-तहाँ खड़ी रहे, या चक्कर काटे! एक नई धुन; एक नई गत; एक नई रेखा; एक नया रंग; एक नई उक्ति; एक नई उपमा--इसके लिए कलाकार की आत्मा छटपटाती रहती है। सिंहल की इस युवती ने कुमार के सामने कला का एक नया सागर लहरा दिया है--रंग नया, तरगें नई। कुमार उन तरंगों से खेल रहे हैं--क्या उन्हें इससे रोका भी जा सकता है? (दीर्घ उच्छ्वास लेती है)

परिचारिका--किन्तु, राजभवन में तरह-तरह की बातें....

कंचन--वे सारी बातें झूठी होंगी, परिचारिके! मैं कुमार को जानती हूँ। वह कला की उस सीमा तक पहुँच चुके हैं, जहाँ वासनाओं की छाया भी नहीं पहुँच सकती; उज्वलता ही जहाँ का रंग होती है, पवित्रता ही जहाँ की गन्ध होती है। कुमार....नहीं, नहीं! कुमार की ओर से मुझे तनिक भी आशंका नहीं है, परिचारिके! तोभी, न जाने क्यों, मुझे बारबार लगता है, जैसे यह कुछ अच्छा नहीं हो रहा। लगता है, क्षितिज के किसी अदृश्य छोर पर कहीं आँधी पल रही है। उफ्!

परिचारिका--देवि, क्षमा कीजिये तो मैं कहूँ।

कंचन--बोल....

परिचारिका--(कंचनमाला की ओर देखती रह जाती है)

कंचन--बोल, बोलती क्यों नहीं?

परिचारिका--भद्रे नई सम्राज्ञी को जब-जब देखती हूँ, मुझे बारबार उस काली सर्पिणी की याद आ जाती है, जो उस रात अचानक प्रासाद के प्रांगण में निकल आई थी--वैसा ही रंग, वैसा ही चमक, वैसी ही चपलता, सारा शरीर जैसे भीतर के विष से काँप रहा हो!....वही गर्दन, वही दृष्टि--जैसे कहीं किसी का मर्म ढूँढ़ा जा रहा है (व्याकुल होकर) देवि, देवि, कुमार को वहाँ जाने से रोकिये!

कंचन--(गम्भीरता से) जानती हूँ, सखि, वह आग से खिलवाड़ कर रहे हैं। किन्तु, उस जिद्दी, हठी बच्चे को रोक रखना क्या इतना आसान है? क्या करूँ, समझ में नहीं आता। चिन्ता खाये जा रही है। समझाती हूँ,

तो कहते हैं--तुम स्त्रियाँ बड़ी ईर्ष्यालु होती हो ! स्त्रियाँ, ईर्ष्यालु ! किन्तु, भूल जाते हैं कि स्त्रियाँ ईर्ष्यालु होती हैं तो क्यों ? क्योंकि वह अपनी जाति के सबल तत्व को जानती हैं, और जानती हैं पुरुष-हृदय के उस दुर्बल स्थान को, जहाँ प्रहार किये जाने पर, यह भारी भरकम जानवर औंधे मुँह गिर पड़ता है ! देखो न, स्त्रियों की आँखों के एक बुंद पानी ने ही पुरुषों से क्या-क्या न किया-कराया है !

परिचारिका--बहुत सही कह गईं भद्रे ! फिर जवानी की राह--फिसलन भरी ।

कंचन--(क्रोध की मुद्रा में) जवानी को बहुत बदनाम किया गया है परिचारिके ! जवानी की राह फिसलन-भरी है, तो उसके पैरों में शक्ति और दृढ़ता भी है ! मुझे तो बुढ़ापे से डर लगता है परिचारिके !

परिचारिका--बुढ़ापे से !

कंचन--हाँ, बुढ़ापे से ! जो भोग नहीं सकता ; किन्तु छोड़ भी नहीं सकता ! जिसकी अशक्तता जलन की धूनी रमाये रहती है ! जो अपने को भुलाने के लिए तरह-तरह का उपचार खोजता है, किन्तु पाता नहीं ! बुढ़ापा--जिन्दगी की लाश. . . .

परिचारिका--देवि, देवि, आप किधर लक्ष्य कर रही हैं ? क्या आप को सम्राट् से. . . .

कंचन--हाँ, मुझे सम्राट् से भय है। भय है, स्वयं सम्राट् शायद यह पसन्द न करें कि कुमार और सिंहल-कुमारी इस प्रकार दिन-रात एक साथ रहा करें !

परिचारिका—ओह, आप यह क्या कह रही हैं? सम्राट् को तो धर्म-चर्चा . .

कंचन—परिचारिके, इस प्रसंग पर हमें कुछ कहने का अधिकार नहीं है! लेकिन एक बात याद रख—जितना ही आदमी धर्म की ओर प्रेरित हो; समझ उसके हृदय में कहीं उतनी ही अशान्ति है! और उस अशान्ति से जलते हृदय में, जिस दिन निराश किशोरी का भग्न हृदय, प्रतिहिंसा से उद्वेलित होकर, नया ईन्धन डालेगा, उस दिन उसकी लपट से कौन किसकी रक्षा कर सकेगा?

परिचारिका—निराश किशोर—भग्न हृदय!

कंचन—हाँ, मेरा विश्वास है, एक-न-एक दिन सिंहल कुमारी को अनुभव करना पड़ेगा कि मेरे कुमार उस धातु के नहीं हैं, जिनकी कल्पना उन्होंने कर रखी है। फिर क्या होगा? उफ़, मालूम होता है, अशोक-परिवार पर ही किसी कुग्रह की शनि-दृष्टि पड़ गई है! माताजी कहाँ गईं, जेठ जी कहाँ गये; दीदी कहाँ गईं? सबके-सब चले गये और मेरे जिम्मे एक अजीव जीव सौंप गये—दुर्बल, कोमल. . . .
(उसाँसे लेती है)
(दूर से किसी के आने की कुछ आहट)

परिचारिका—(उस ओर चकित दृष्टि से देखती, अचानक खिल पड़ती और कह उठती है) अहा! वह देखिये; कुमार आ रहे हैं (दूर से कुमार आते दिखाई पड़ते हैं) ओहो, हमारे कुमार कितने सुन्दर हैं, भद्रे! सुन्दर, सुडौल, छरहरा बदन और उसपर यें आँखें—सदा अधखुली, अधमुँदी! मानों एक नाल पर दो अधखिले कमल! हाँ, हाँ, एक नाल पर दो अधखिले कमल! वही आकार, वही रंग, वही मादकता, वही मोहकता! क्या संसार में कोई

ऐसा हृदय है, जो इन आँखों पर मुग्ध न हो रहे ?

(कुणाल का प्रवेश)

कुणाल—किन आँखों की बातें हो रही हैं ? (परिचारिका को देखकर) ओ, तुम ! अच्छा परिचारिके, जाओ, जरा मेरे लिए थोड़ा पेय का तो प्रबन्ध करो ! (अचानक कह उठता है) आह, छोटी माताजी थका डालती हैं ! (परिचारिका घूरती है ; उस ओर घूमकर) अरी, तुम गई नहीं ! (परिचारिका जाती है) हाँ, हाँ, सच कह रहा हूँ, कंचने, छोटी माताजी थका डालती हैं। यह गाइये, वह गाइये ; यह बजाइये, वह बजाइये ! एक दिन कहने लगीं—शायद आप नृत्य भी जानते होंगे। बोलो, मैं उनसे क्या कहता ?

कंचन—तो क्या आपको कोई जवाब नहीं सूझे ?

कुणाल—अरे, किस-किस बात का जवाब सूझे ! वह अजीब नारी हैं, कंचने ! कब क्या बोल जायेंगी, कुछ ठिकाना है ? अभी उस दिन की बात है, बड़ी देर तक मेरा मुंह निहारती रहीं, फिर कह उठीं—कुमार आपकी ये आखें कितनी सुन्दर हैं ! यहाँ भी तो शायद इन आँखों की ही चर्चा हो रही थी ! क्या मेरी आँखें सचमुच बड़ी सुन्दर हैं, कंचने ?

कंचन—जब नई माताजी कह रही हैं....

कुणाल—कहा न तुम्हें कंचने, यह छोटी माताजी अजीब नारी हैं। जब उनसे यही पूछा—तो, उनकी आँखों में आँसू छलछला आये और बोली—कुमार, आपको मालूम नहीं, ये आँखें कैसी हैं, एक बार इन आँखों को देखकर इनसे अलग रहना..

कंचन—(उसाँसे लेती हुई) हूँ....

कुणाल--किन्तु, मैंने उन्हें बीच में ही टोक दिया, कंचने! और कहा--आर्ये, इसका मतलब तो यह हुआ कि मैं आप के ही पास बैठा रहूँ। क्या यह संभव है? आदमी सदा ही जगह कैसे बैठा रह सकता है? और वह कंचनमाला जो है! जानती हो, कंचने, तुम्हारा नाम सुनते बोल उठीं–देवि कंचनमाला कितनी सौभाग्यशालिनी हैं!

कंचन--(व्यंग्य में) हाँ, मैं बड़ी सौभाग्यशालिनी हूँ!

कुणाल--और, कंचने, उस समय मुझे एक दिल्लगी सूझ गई। मैंने कहा--आर्ये, यदि आप इन आँखों से दूर नहीं रह सकतीं; तो मैं एक काम करूँ--आँखें निकालकर आप को समर्पित कर देता हूँ, शरीर कंचन के पास रहेगा!

कंचन--(व्याकुल होकर) कुमार, कुमार! उफ्, यह क्या बोल रहे हैं, आप?

कुणाल--छोटी माताजी भी इसी तरह व्याकुल हो उठीं थीं, कंचने! झट उन्होंने अपने हाथों से मेरा मुँह बन्द कर दिया और जानती हो, भावना-विभोर होकर बारबार मेरी आँखें चूमने लगीं। सच कहता हूँ, जब वह आँखों को चूम रही थीं, तो मुझे अपनी माताजी की याद आ गई। आह! वह भी योंही मेरी आँखें चूमा करती थीं, और कहा करती थीं--कहीं मेरे बेटे की इन आँखों को किसी चुड़ैल की आँख न लग जाय!

कंचन--उनकी आशंका निराधार नहीं थी, कुमार!

कुणाल--कंचने! माताजी! (लम्बी उसाँस के साथ), आह, माताजी कहाँ चली गईं? क्यों चली गईं? क्या माताजी को हमारी याद नहीं आती होगी, कंचने? उफ्! यह कैसी बात हो गई--माताजी विदिशा में, भैया और मित्रा सिंहल म . . .

कंचन--(दृढ़ स्वर में) शायद हमें भी पाटलिपुत्र छोड़ना पड़े, कुमार!

कुणाल--यह क्या कह रही हो कंचने? हम पाटलिदुत्र छोड़ देंगे, तो छोटी माताजी का क्या होगा? एक दिन उन्होंने कहा भी था--कुमार, आप नहीं होते, तो न जाने मेरी यहाँ क्या गति हुई रहती? और, यह कहकर ऐसा मुँह बना लिया कि तुम्हारी याद आ गई।

कंचन--मेरी ?

कुणाल--अरी पगली, तुम कभी भुलाई जा सकती हो! तुम्हारा प्रेम, तुम्हारी भक्ति, तुम्हारा भोलापन! लेकिन एक बात! भोलेपन में छोटी माताजी तुम्हें भी मात दे सकती हैं। एकदम बच्ची; कुछ समझती नहीं! एक दिन कहने लगीं–कुमार, आप मुझे आर्ये नहीं कहा कीजिये यह माता का सम्बोधन!...सचमुच उनका कहना सही था, कंचने! उम्र में मुझसे भी छोटी, शायद तुमसे भी; उन्हें आर्ये कहते मुझे भी जाने कैसा लगता है। मैंने कहा--बात तो जँचती है, किन्तु फिर क्या कहकर पुकारूँ, आपको?

कंचन--और आप दोनों चेष्टा करके भी, कोई नया सम्बोधन नहीं पा सके?

कुणाल--अभी तक तो हम नहीं पा सके हैं, कंचने? तुम्हीं बता दो न! और हाँ, हाँ, इसी सिलसिले में वह यह भी कहने लगीं—मुझे जो आप 'आप-आप' कहकर पुकारते हैं, यह भी अच्छा नहीं लगता। और उसी साँस में यह भी पूछ बैठी—क्या देवि कंचनमाला को 'आप' ही कहकर, आप सम्बोधित करते हैं? और, ज्योंही मेरे मुंह से निकला--वह तो पत्नी है और आप माता! तो फिर क्या हुआ, जानती हो? वह एकबारगी मेरी गोद में सिर धरकर

रो उठीं--उफ्, हिचकियाँ, आँसुओं की अविरल धारा! और सच कहूँ, तो मेरी आँखों में भी आँसू छलछला आये कंचने! (कंचनमाला काँप उठती है; उसकी आँखों में भी आँसू छलछला आते हैं) अरे, ये तुम्हारी आँखें भी...

कंचन--(रूधे गले से) अब इस राजभवन को हम छोड़ें, कुमार! ओह, ओह....

कुणाल--यों छोड़ना चाहो, तो सुयोग भी है। अभी उसदिन महामात्य से मालूम हुआ कि उत्तर-पश्चिम सीमा पर कुछ उपद्रव हो रहा है और पिताजी चाहते हैं कि यदि मैं कुछ दिनों तक उस ओर जाकर रहूँ, तो शायद मामला सुलझ जाय।

कंचन--हाँ, मामला सुलझ जाय! (लम्बी उसाँसे लेती हैं)

कुणाल--क्यों, कंचने, तुम्हारे इस कथन में कुछ और भी मानी है, क्या?

कंचन--मेरे कुमार, हर कहने में कुछ-न-कुछ मानी छिपा भी रहता ही है। किन्तु मेरे भोले, मेरे भावुक, अच्छा है, तुम इतने परे हो। उपद्रव--सीमा पर! किस सीमा पर? सम्राट्, सम्राट्! व्यर्थ में स्त्रियाँ बदनाम की जाती हैं कि उनमें ईर्ष्या की मात्रा अधिक होती है। हर कमजोर में ईर्ष्या होती है। हूँ! उपद्रव! सीमा पर! कैसा उपद्रव? किस सीमा पर? (कुणाल से लिपटती हुई) हाँ, हाँ, कुमार हम यहाँ से चलें; रास्ते में विदिशा में माताजी के दर्शन भी कर लेंगे! चलें.... (कंचनमाला कुमार से लिपट जाती है)
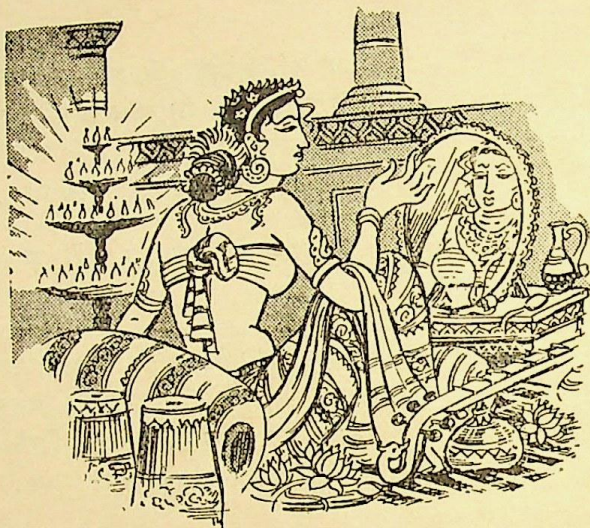
चौथा दृश्य

(तिष्यरक्षिता अपने विलास-कक्ष में। उसके चारों ओर वाद्य, संगीत और नृत्य के साधन बिखरे पड़े हैं। वह दर्पण के सामने बैठी है; उतरा हुआ चेहरा; गीली आँखें, बड़ी देर तक दर्पण में अपनेको देखती है; फिर अपने प्रतिविम्ब से बोल उठती है....)

रक्षिते! यही है तू। यही गति होनी थी तेरी! कहाँ पैदा हुई, कहाँ रहने आई! मर, मर, रक्षिते!

(थोड़ी देर में आँखें मुंद लेती है)

मरेगी रक्षिते! हाँ, हाँ, जीना चाहती है; किन्तु, सिवा मृत्यु के कौन चारा है तेरे लिए? यह उपेक्षित जीवन, उपमानित जीवन, लांछित जीवन! क्या इस जीवन से मृत्यु अधिक दुःखद, भयप्रद और वीभत्स होगी? तुझे मरना चाहिये, मरने को तैयार होना चाहिये, रक्षिते!

(गला सहसा रुँध जाता है)

पिताजी, पिताजी, यह आपने क्या किया? मुझे कहाँ भेज दिया पिताजी? अजीव यह देश है, अजीव यहाँ के लोग हैं! समझ में नहीं आता, क्या कहते हैं, क्या चाहते हैं?

(क्रोध की मुद्रा में)

नहीं, जान-बूझकर यहाँ मेरी उपेक्षा की गई है! रक्षिते, पगली, अपने को धोखे में मत रख। जान-बूझकर तेरी उपेक्षा की गई है! हाँ, जान-बूझकर उपेक्षा की गई है; किन्तु इस ढंग से कि तू धोखे में रहे! उँह, इस सारे भवन में ढोंग-ही-ढोंग भरा है। प्रेम का ढोंग, कला का ढोंग--ढोंग! ढोंग! ढोंग!

(मुस्कुराती हुई)

बूढ़े सम्राट! अह, क्या कहने हैं! दिनभर इस चिन्ता में कि इस देश में धर्मदूत भेजो, उस देश में धर्मदूत भेजो; यहाँ स्तूप खड़ा कराओ, वहाँ स्तूप खड़ा कराओ! स्तूप खड़ा कराओ, उनपर अच्छे-अच्छे उपदेश लिखवाओ! और सबका आरम्भ करो इस वाक्य से--"देवानाम् प्रिय, प्रियदर्शी अशोक!" "देवानाम् प्रिय" तो समझी, किन्तु यह "प्रियदर्शी" क्या बला है, बूढ़े सम्राट्? क्या आप अपने को सुन्दर भी समझते हैं! बूढ़े! (खिलखिला पड़ती है) नहीं रक्षिते, हँस मत। सम्राट् कभी सुन्दर भी रहे होंगे, जरूर रहे होंगे--खंडहर बताता है, इमारत बुलन्द रही होगी! किन्तु कैसा करुण! खंडहर समझ रहा है, वह इमारत है। बूढ़े सम्राट्! तुम पर क्रोध नहीं, करुणा ही आती है! किन्तु, किन्तु....

(अचानक भौंहें चढ़ जाती हैं)

किन्तु, कुमार तुम! तुम! सम्राट् दुर्बलताओं के साथ भी महान हैं, किन्तु तुम? ओह, कैसा नाटक दिखाया तुमने? जैसे भोले हो, जैसे बच्चे हो, जैसे कुछ समझते ही नहीं हो, तुम!

नहीं, नहीं, तुम्हें घमण्ड है, कुमार, अपने रूप का, अपने आँखों का ! उन आँखों का ! आँखों का ?

(उत्तेजना कम हो जाती है ; गला रुँध जाता है)

किन्तु, रक्षिते ! सत्य से दूर मत भाग ! वैसी आँखें संसार में कहीं देखी नहीं गई होगीं। वे आँखें, मादक आँखें, मोहक आँखें ! कुमार, कुमार ! वे आँखें तुम्हें कहाँ से मिलीं ?

(फूटकर रो पड़ती है ; फिर सम्हलती है)

नहीं, वह तो चला गया ! कहाँ चला गया ? क्यों चला गया ? कंचने ! यह सारी खुराफात तुम्हारी है ! तुम कुमार को ले भागी हो ! मुझसे छीनकर तुम कुमार को ले भागी हो ! तुम मुझसे डर गई। डर गई ! जब-जब मैं तुम्हारे सामने हुई, देखा, तुम मुझे देखते ही काँप उठती रही ! क्यों काँपती रही ? क्यों, क्यों ? (कुछ सोचती हुई) हाँ, हाँ, मैं सिंहल से आई हूँ न ! सिंहल में राक्षसी बसती हैं, तुम्हें डर था, तुम्हारे कुमार को....

(दर्पण में घूरती हुई)

किन्तु रक्षिते ! तू क्या सचमच राक्षसी है ! राक्षसी का चेहरा ऐसा ही होता है ? राक्षसी के बाल ऐसे ही होते हैं ? राक्षसी के अधर ऐसे ही होते हैं ? और राक्षसी की आँखें। ये आँखें (अचानक कुणाल की आँखों की याद आ जाती है) और, वे आँखें—कुमार, कुमार !

(फिर आँखें मुंद लेती है)

पिताजी, पिताजी ! मुझे आपने कहाँ भेज दिया, पिताजी ! किन लोगों के बीच भेज दिया। यहीं भेजना था, तो किसी संघराम में भेजे होते, भिक्षुणी बनाकर भेजे होते। इस राजभवन में क्यों भेज दिया—किन लोगों के बीच भेज दिया ! सिंहल—

अभिशापित देश ! तुम्हें ये लोग राक्षसपुरी समझते हैं, तुम्हारी बेटियों को राक्षसी समझते हैं। राक्षसी ! राक्षसी ! कंचने, क्या मैं राक्षसी हूँ ? कुमार, क्या मैं राक्षसी हूँ ?

(अचानक उठकर खड़ी होती है)

राक्षसी हूँ, तो सम्हल कंचने ! कुमार को लेकर कहाँ भागी ? कहाँ भागी, कहाँ भागी, और भाग कर कहाँ जायगी, कहाँ जायगी ? यह राक्षसी जो तुम्हारे पीछे लगी है, कंचने ! कुमार कहाँ जाओगे, यह राक्षसी जो तुम्हारे पीछे पड़ी है ! वे आँखें ! वे आँख ! तुम्हें उन आँखों पर घमण्ड है, कुमार ! कंचने, तुम उन आँखों को बचाने के लिए भाग गई हो ! और, कुमार, उन आँखों के बल पर, तुमने मुझे अपमानित किया, लांछित किया ? उन आँखों के बल पर !

(मुट्ठी बाँधती हुई)

तो, तो....जिन आँखों के बल पर...जिन आँखों के बल पर ....हाँ, हाँ, जिन आँखों के बल पर....

(अचानक मुट्ठी ढीली पड़ जाती है–बेचैन हो उठती है)

आह, वे आँखें....आह, वे मादक, मोहक आँखें ! वे आँखें, वे आँखें....

(फिर सम्हलती और मुट्ठी बाँधती हुई)

किन्तु, तुम उन्हें देख न सकोगी कंचने ! तुम उन्हें बचा नहीं सकोगी, कंचने ! उनपर राक्षसी की नजर पड़ गई है ! राक्षसी ! राक्षसी ! राक्षसी !

(एक क्षण रुककर, फिर तैश में आकर)

कुमार, याद है, तुमने कहा था, कहिये तो ये आँखें निकालकर आपको दे दूँ ! तुमने व्यंग किया था, कुमार ! तुमने मेरी अभिलाषा का उपहास किया था, कुमार ! तो, तो....

(गम्भीर होकर दर्पण के सामने फुसफुसाती हुई)

चुप, रक्षिते!, चुप रह! चुप रह! कोई सुन न ले, कोई जान न ले। वे आँखें—वे आखें! इन हथेलियों पर! आँखें हथेलियों पर....चेहरे पर आँखें—कितनी सुन्दर! (हँस पड़ती है) जब वे इन हथेलियों पर होंगी—(अचानक विषण्ण होती हुई) उँह, उँह—उफ्, उफ्! (फिर सम्हलती-सी) लेकिन, यह दुर्बलता कैसी? रक्षिते, तू राक्षसी है न! वे तुम्हें राक्षसी समझते हैं न? फिर क्यों यह कोमल भावना? मानवी रक्षिता का जिसने अपमान किया, वह राक्षसी रक्षिता का प्रकोप सहे! जो मानव का अपमान करता है, वह राक्षस पाता ही है—सम्हलो, सम्हलो, कुणाल!

(उत्तेजना में दर्पण के सामने से हटकर टहलती हुई)

कंचन! हाँ, हाँ, उन्हें अपने रंग पर घमण्ड है, सोने ऐसे दमकते रंग पर—तभी तो नाम रखा है, कंचनमाला, कंचनमाला! और रक्षिते! तुम काली हो न? तुम्हारे बाल काले हैं न? तुम्हारी आँखें काली हैं न? आँखें! (कुणाल की आँखें या आ जाती हैं) उफ्! उफ़! नहीं, नहीं! (पूरी दृढ़ता से) हाँ, हाँ, वे आँखें अब इन काली हथेलियों पर! इन काली हथेलियों पर! हाँ, हाँ, वे दोनों आखें, इन दोनों हथेलियों पर! चेहरे पर आँखें—कितनी सुन्दर! किन्तु, हथेलियों पर—काली हथेलियों पर....हा..हा..हा..हा..हा..हा..हा..हा....

(अट्टहास करती हुई जाती है)
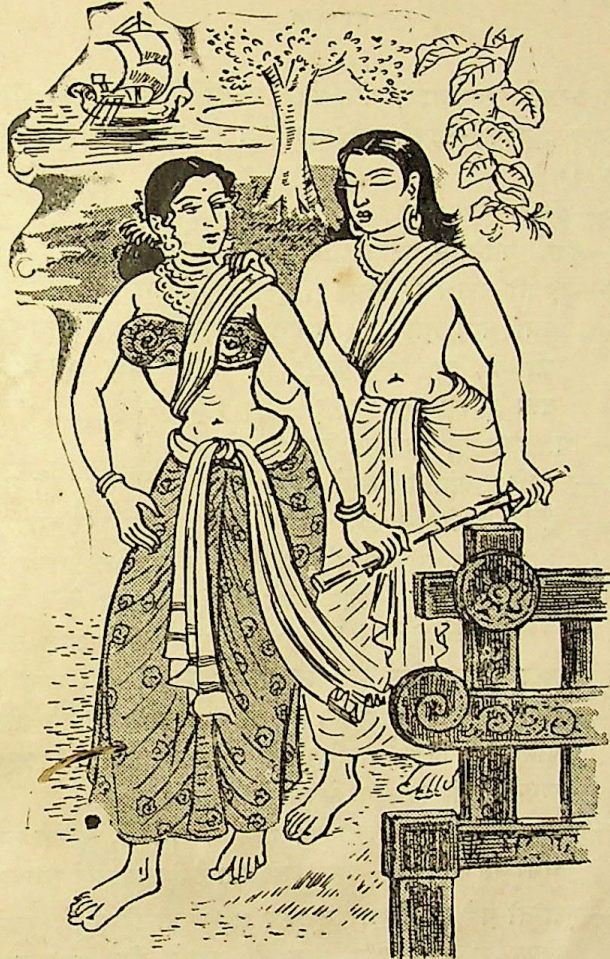
पाँचवाँ दृश्य

(अँधा होकर, कुणाल अपनी पत्नी के साथ, भिखारी के रूप में चल पड़ता है ।

आगे-आगे कंचनमाला, पीछे-पीछे उसका कन्धा पकड़े; कुणाल चलते-चलते, भटकते-भटकते वह पाटलिपुत्र के कहीं आस-पास पहुँच जाते हैं।)

कुणाल—कंचने, हम कहाँ पर हैं, कंचने?

कंचन—हमने नाम-धाम कहना और पूछना छोड़ दिया है न?

कुणाल—यह तो अच्छा ही किया है, हमने। भिखारी के लिए नाम-क्या, धाम क्या? चले चलो, बढ़े चलो—कुछ मिल जाय, खा लो, जहाँ थक जाओ, सो लो। किन्तु कंचने, कुछ बात है कि पूछ रहा हूँ—हम कहाँ पर हैं?

कंचन—क्या खास बात अनुभव कर रहे हैं, आप!

कुणाल—जानती है, पगली! अन्धे की ज्ञानेन्द्रियाँ बड़ी तीखी हो जाती हैं! अभी-अभी हवा का एक झोंका आया और शरीर से स्पर्श किया, तो मालूम हुआ, जैसे कोई परिचित आकर गले मिल रहा हो! क्या निकट में कोई तालाब है? और उसमें कमल खिले हैं? पुरइन पर बुँदें किस तरह चमक रही होंगी, कंचने? या—या—बगल में कहीं नदी है? गंगा तो नहीं? कंचने, यो तो गंगा हर जगह की शीतल पवित्र! किन्तु, पाटलिपुत्र के निकट की गंगा. . . .अहा! कंचने, कहीं हम पाटलिपुत्र के तो निकट. . . .

कंचन—कुमार, कुमार, पाटलिपुत्र का नाम न लीजिये, पुरानी बातों चर्चा मत कीजिये—यह अच्छी बात है कि हम उन्हें भूल गये!

कुणाल—भूल तो गये ही हैं और भूलकर अच्छा ही किया है, हमने! किन्तु न जाने क्या बात है, कंचने, कि आज इतनी उत्सुकता जगी है! मालूम होता है कि कहीं पुरानी जगह में आ गया हूँ! वही हवा; वही गन्ध; वही स्वर-लहरी—ध्यान से तो सुन! यह कोयल किसी

घनी अमराई में बोल रही है, या नहीं? यों तो कोयल जिस डाल पर बोल लेती है, उसकी बोली भली लगती है--किन्तु, विस्तृत, सघन, अमराई की बौराई कुंज में उसकी बोली कुछ और ही होती है--जैसे स्वर के साथ गन्ध घुल गई हो,--जैसे, काकली मलयानिल पर तैरती हुई आती हो !

कंचन--कुमार, छोड़िये उन बातों को ! मेरा मन कैसा तो हो जाता हो !

कुणाल--हाँ, हाँ, तुम्हारा मन बहुत कोमल है--मुझसे भी कोमल ! जानती हो, कंचने, मैं यह जानता था, इसीलिये उस दिन जब पाटलिपुत्र से वह राजदूत आया और उसने सम्राट् का आज्ञा-पत्र दिया, तो मैंने यह निर्णय कर लिया कि मुझे यह काम तुरत कर लेना चाहिये--नहीं तो तुम्हें जरा भी पता चलता, तो क्या यह मेरे लिये संभव होता ?

कंचन--उफ्....छोड़िये, उन बातों को !

कुणाल--मेरी भोली ! तुम्हारे इस भोलेपन के कारण ही तो उस दिन मुझे अधिक डर हुआ था। तुरत मैंने राजदूत से कहा--आँखें चाहिये ! किस चीज में लोगे ? क्या उन्हें लेने के लिये पात्र लाये हो ? और कंचने, तुम्हें सुनकर आश्चर्य होगा, उसके पास पात्र भी था और अस्त्र भी ! ओहो, जिसे ये आँखें चाहिये थी, उसकी आत्मा कितनी कोमल होगी, कंचने ! हाँ, जो करना है, वह जल्द कर लिया जाय और अच्छी तरह कर लिया जाय ! कैसा सुन्दर था वह पात्र ! किस तरह चमचम कर रही थी वह छुरी ! छुरी ! छुरी !....उसे देखकर एकबार तो मैं काँप उठा--किन्तु, फिर सम्हला और झट उसे दाहिनी आँख...

कंचन--उफ्, उफ्! यह चर्चा बन्द कीजिये, कुमार!

कुणाल--(हँसकर) पगली! ....जो होना था, हो चुका; फिर तुम व्याकुल क्यों होती हो? अच्छा एक बात! कंचने, बताओ तो, मैंने पहले दाहिनी आँख को ही क्यों निकाला?

कंचन--उफ, उफ....

कुणाल--उफ, उफ! लेकिन मैं तुमसे सोलह आने सच कह रहा हूँ, कंचने, मैंने जरा भी उफ नहीं की! छुरी की नोक भौं के नीचे घुसेड़ दी--और उसे इस तरह घुमा दिया कि वह आँख एकबारगी निकलकर उस पात्र में आ रही! ओहो, सचमुच मेरी आँखें बड़ी खबसूरत थीं, कंचने! मैंन उसे देखा--खून से लथपथ, फिर भी कितना साफ कोआ, और बीच की वह पुतली--मालूम होता था, जैसे वह मझसे कह रहीं हो--कुमार, मेरा क्या कसूर कि मुझे यों..

कंचन--कुमार, कुमार!

कुणाल--और वह राजदूत भी चिल्ला उठा था--कुमार! कुमार! लेकिन, मैंने सोचा, तनिक भी विचलित होता हूँ, विलम्ब करता हूँ, तो फिर मुझसे यह काम पूरा नहीं होने का। मैंने छुरी की नोंक बाँई आँख में भी उसी तरह घुसेड़ दी --लेकिन, आह! मैं उस बेचारी आँख को देख भी न सका! बेचारी बाँई आँख--न जाने वह कहाँ गिरी; पात्र में या पृथ्वी पर!

कंचन--ओह, ओह! (कुमार से लिपट जाती है)

कुणाल--(उसको पीठ सहलाता हुआ) कंचने, कचंने! एक बात बता दो, कंचने! कंचने, तुमने देखा था, वह कहाँ गिरी थी? कहीं जमीन पर न गिर गई हो! बेचारी बाँई आँख!

कंचन--ओह, ओह, कुमार, कुमार! (फट-फूटकर रो पड़ती है)

कुणाल--हाँ, हाँ, वह राजदूत इतने ही जोरों से चीख उठा था कि राजभवन में हल्ला मच गया, और मैंने थोड़ी देर बाद ही तो तुम्हें इसी तरह चिल्लाते सुना था--"कुमार, कुमार! ओह, ओह!" उफ्, तुम कितनी रोई थी! (कंचन के सिर पर हाथ फेरते हुए) कंचने, कंचने, किन्तु अब क्यों रो रही हो? पगली यह स्वप्न था! सारा स्वप्न! संसार को दार्शनिकों ने जो स्वप्न कहा है, वह कितना सत्य है, कंचने! किन्तु एक बात है, मेरी रानी! मन में प्रश्न उठा करता है--यह क्या हुआ? पिताजी ने यह क्या किया? एकबार उस राजाज्ञा को कई बार अच्छी तरह देखा था! किन्तु नहीं, पिताजी की ही तो मुहर थी!

कंचन--पिताजी की ही मुहर थी, क्या इसका अर्थ सदा यह होगा कि आज्ञा भी पिताजी की ही होगी?

कुणाल--जरूर, जरूर! पिताजी के अतिरिक्त कौन दूसरा उसपर उनकी मुहर लगा सकता है? सम्राट की मुहर, संसार का सबसे पवित्र धरोहर!

कंचन--पवित्र-से-पवित्र धरोहरों की भी चोरी होती आई है, कुमार!

कुणाल--अरे, तू क्या बोल गई कंचने? चोरी!....किसने चोरी की होगी? नहीं, नहीं ऐसा हो नहीं सकता। वह मुहर सदा पिताजी के पास ही रहती है!

कंचन--जैसे पिताजी के पास कोई नहीं रहता?...या रहती?

कुणाल--रहता?...रहती?...तो क्या तुम्हें छोटी माताजी...

कंचन--उन्हें माता कहकर इस पवित्र शब्द का अपमान न कीजिये, कुमार! सत्य नहीं छिपता। पहले मैं भी भ्रम में थीं; पिताजी के बारे में भी सन्देह उग आया था। शायद, उसीका यह प्रायश्चित कर रही हूँ! किन्तु, आज वह सत्य तो घाट-बाट की चर्चा बन चुका है। मैं यह बात आपसे जान-बूझकर छिपाये हुई थीं, कुमार! सबकी जिह्वा पर यह चर्चा है--साम्राज्य की एक-एक प्रजा यह सब जान गई है।

कुणाल--सच? क्या सचमुच ऐसी बात है, कंचने?

कंचन--जाने दीजिये कुमार! हम सब कुछ भूल गये, इसे भी भूल जायँ जिसने भिखारी का जीवन वरण कर लिया है, वह अब साम्राज्य और सम्राज्ञी आदि की बात भला क्या सोचे!

कुणाल--(कहता जाता है) क्या सच? क्या सचमुच तुमने ऐसी चर्चा सुनी है। अरे, अरे, उफ! (और सोचने लगता है)

कंचन--आप यह क्या सोचने लगे?

कुणाल--कुछ नहीं, कुछ नहीं! (कुछ रुककर) कंचन, मेरी कंचने! मेरी दुलारी कंचने! एक बात मस्तिष्क में कौंध गई। तुमने सुना है न, कंचन, प्रेम अन्धा होता है?

कंचन--हूँ!

कुणाल--और, क्या कला भी अन्धी होती है?...ह...ह...ह... (हँसता है)

छठा दृश्य

(सिंहल द्वीप का वही संघाराम ! दोपहर का सन्नाटा। भिक्षु महेन्द्र व्यग्रता से टहल रहे हैं। संघमित्रा आती है—वह खड़ी है; किन्तु महेन्द्र टहलते जा रहे हैं। कुछ देर बाद संघमित्रा पुकारती है . .

संघमित्रा—भैया !

(महेन्द्र टहलते जा रहे हैं)

संघमित्रा——भैया, मैं !

(महेन्द्र फिर भी टहल ही रहे हैं)

महेन्द्र—(रुककर) ओ मित्रे !

संघमित्रा—भैया, यह....

महेन्द्र—हाँ, यह उद्विग्नता ! नहीं, नहीं यह भिक्षु के उपयुक्त नहीं ? कहीं पर कुछ हो, कुछ हो जाय, हमें तो हमेशा शान्त रहना है ! सम्यक् ध्यान, सम्यक् समाधि !

संघमित्रा—इधर दो-तीन दिनों से आप को बहुत ही व्याकुल देख रही हूँ, भैया ! ज्योंही आप एकान्त में हुए कि व्याकुलता....

महेन्द्र—ओहो, इतनी बारीकी से देखा करती हो तुम मुझे ?

संघमित्रा—यहाँ और कौन है, जिसे अपने-से बढ़कर देखूँ ! भैया ममता मनुष्य की सबसे बड़ी कमजोरी है न ?

महेन्द्र—सही कह रही हो मित्रे ! ममता मनुष्य की सबसे बड़ी कमजोरी है। नहीं तो रक्षिता कुछ करे, कुणाल का कुछ हो जाय, हमें लेना-देना बातों से ? (घूमने लगता है) ।

संघमित्रा—(आतुर होकर) रक्षिता ? कुछहोकर ही रहा क्या ?

महेन्द्र—हाँ, मेरी आशंका सोलह आने सच साबित हुई, मेरी बहन ! आह कुणाल ! कुणाल ! (आँखों में आँसू आ जाते हैं) ।

संघमित्रा—भैया ! आपकी आँखों में ये आँसू !

महेन्द्र—हाँ, जिन्दगी में शायद पहली बार येआँसू निकले हैं मित्रे ! कम-से-कम जबसे होश हुआ याद नहीं कभी रोया होऊँ ! करुणा का स्रोत न जाने कबसे अवरुद्ध था ; बहुत दिनों पर फूटा है ! और जब फूटा है...! आह, बहने दो, बहने दो । बहने दो मेरी नन्हीं बहन ! (आँसू झरझर गिरने लगते हैं)

संघमित्रा––(व्याकुल होकर) भैया, क्या बात है भैया ? कुणाल भैया को क्या हुआ ? क्या हुआ ? कुणाल भैया को क्या हुआ ? उफ ! ओह ! ओह ! (फूटकर रो पड़ती है)

महेन्द्र––(अपने आँसुओं को रोकते हुए) मित्रे, नहीं, नहीं ! हम दोनों में से एक को तो होश में रहना ही है ! हाँ कुणाल ! (गला रुँध जाता है) कुणाल . . . .

संघमित्रा––कुणाल भैया ! कुणाल भैया ! उन्हें क्या हुआ भैया ? वह कहाँ हैं, भैया ? भैया, भैया ! (लिपट जाती है)

महेन्द्र––कुणाल भैया को क्या हुआ ? हाय रे कुणाल ! वज्र गिरा भी, तो कमल-नाल पर ! हम, तुम, पिताजी, माताजी . . . सब सस्ते निकल गये ! सस्ते निकल गये, सस्ते निकल गये ; और सबसे बड़ा दान देना पड़ा उसे, जो हममें सबसे दुर्बल था !

संघमित्रा––दान ? क्या दान देना पड़ा कुणाल भैया को ? बताइये भैया–– बताइये, नहीं तो मेरी छाती फट जायगी––ओह, ओह ! (कलेजे को दोनों हाथों से पकड़ती है)

महेन्द्र––(संघमित्रा को सम्हालते हुए) मित्रे ! मित्रे ! यह ठीक नहीं, यह ठीक नहीं ! हम सबको कुछ-न-कुछ देना पड़ा है–कुणाल जरा पीछे पड़ गया था ; इसीलिए उसे सबसे बड़ा दान देना पड़ा !

संघमित्रा––(खीझ कर) दान ! दान ! दान ! दान ! क्या दान ? बताइये, नहीं तो मैं पागल हो जाऊँगी, भैया ? हाँ पागल . . . पागल . . . पागल . . . (विक्षिप्त-सी चिल्लाने लगती है)

महेन्द्र––शान्त, बहन, शान्त ! तुम इस तरह कर रही हो ! सोचो, कंचन कैसे होगी ! बेचारी . . . उफ . . . अन्धे की लाठी !

संघमित्रा––अन्धे की लाठी ! कौन अन्धा हुआ भैया ? कुणाल भैया . . अन्धा ! अन्धा ! कुणाल भैया अन्धा ?

महेन्द्र––(बात काटकर) हाँ, तुम्हारा कुणाल भैया अन्धा हो गया है !

संघमित्रा—ओह ! ओह ! (मूर्च्छित होकर गिर पड़ती है । महेन्द्र उसे सम्हालते हैं, बैठ जाते हैं, अपनी जाँघों पर उसका सिर रखे, मस्तक पर हाथ फेरते हुए कहते हैं)

महेन्द्र—अन्धा ! नहीं, नहीं, कहने में भूल हो गई ! कुणाल अन्धा ? नहीं कुणाल ने नेत्र-दान दिया है ! नेत्र-दान ! मित्रे, नेत्र-दान ! यह दान कुणाल ही दे सकता था, मित्रे !

संघमित्रा—(महेन्द्र की गोद में सिर रखकर हिचकियों-पर-हिचकियाँ लेती है—रह-रहकर फूट पड़ती है)

महेन्द्र—(उसका सिर ऊपर उठाते हुए) जो होना था, सो हुआ, मित्रे ! सारी बातें बड़े स्वाभाविक ढंग से हुई । रक्षिता बेचारी अपने पर जब्त न रख सकी । कुणाल अपनी रक्षा नहीं कर सका । कंचन ने बचाना चाहा, किन्तु बात उल्टी हो गई ! आह, कुणाल . . दुर्बल, कोमल, असहाय .

संघमित्रा—(जैसे अचानक चौंककर, गुस्से में आकर) और यह सब पिताजी के रहते !

महेन्द्र—पगली, तुम इन बड़े लोगों को नहीं जानती । ये अपनी धुन में इतने मस्त रहते हैं, कि इनकी नाक की सीध में भी क्या हो रहा है, नहीं जानते ; सबसे बड़ी बात तो यह होती है कि इनके चलते अपने लोगों को ही सबसे अधिक कष्ट सहना और उठाना पड़ता है । शायद यह भी उचित ही है । इतिहास के कोने में इन्हें अनायास थोड़ा-सा स्थान मिल जाता है, उसकी कीमत तो चुकानी ही चाहिये ! हम, तुम सब चुका रहे हैं ! किन्तु, कुणाल . . . .

संघमित्रा—भैया, जरा विस्तार से कहिये, भैया, व्योरेवार बताइये, भैया !

महेन्द्र—विस्तार से सुनोगी ! तुम सुन लोगी । घबराओ नहीं, तुम सुनोगी, संसार सुनेगा । कुणाल के इस नेत्र-दान ने, दान के इतिहास में एक ऐसी घटना की सृष्टि की है कि युग-युगान्तर तक लोग इसे सुनते रहेंगे,

सुनेंगे। इस घटना पर आख्यान बनेंगे, काव्य बनेंगे, नाटक बनेंगे। मित्रे, आह ! सचमच कितनी बड़ी बात हो गई; नेत्र-दान....

संघमित्रा--हाय रे यह नेत्र-दान ! नेत्र ! और कुणाल भैया के नेत्र ! कुणाल भैया की आँखें....वे कितनी सुन्दर थीं, भैया ! क्या रक्षिता की कुदृष्टि उनपर पड़ी ?

महेन्द्र--'कु' य. 'सु'...यह तो मानव अपनी मनोभावना के अनुसार विशेषण लगाता है, मेरी नन्हीं बहन ! हम-तुम इसपर व्यर्थ क्यों सिर खपायें ? जानती हो, किसी भी महान यज्ञ में सुन्दरतम को बलि देकर ही पूर्णाहुति की जाती है ! पिताजी ने जो महानता धर्म-यज्ञ प्रारम्भ किया था, इस बलि के बाद, वह अब पूर्ण हो गया।

संघमित्रा--हाय रे यह यज्ञ ; आह री यह बलि !

महेन्द्र--मित्रे, यज्ञ और बलि दोनों में गठबन्धन है। जहाँ यज्ञ, वहाँ बलि। और निरीह मूक पशुओं की जगह चेतन, उद्बुद्ध मानवों की बलि कहीं सुन्दर है, श्रेयस्कर है। और उसमें भी कुणाल-ऐसे शुद्ध और शुभ्र मानव की सुन्दरतम आँखें पाकर तो बलि भी धन्य हो उठी होगी, मित्रे ! उठो मित्रे ! ऐसे भाई को पाकर हमभी अपनेको धन्य-धन्य समझें !

संघमित्रा--भैया, भैया ! ओह ! कुणाल भैया....

(फिर फूट पड़ती है)

महेन्द्र--मित्रे, कलिंग का प्रायश्चित अब पूरा हो गया। हमने जो असंख्य गर्दन काटकर रक्त बहाया, उसका मूल्य हमें आखों के रक्त से चुकाना पड़ा--सुन्दरतम आँखों के रक्त से ! शुद्ध, शुभ्र, कोमल, निर्मल मानव की सुन्दरतम आँखों के पवित्रतम रक्त से। इतिहास का यह सबसे बड़ा पाठ....

संघमित्रा--हाय रे यह पाठ ! आह रे कलिंग ! कलिंग ! कलिंग !

(आँखें मुँद लेती है)

महेन्द्र--मित्रे, कलिंग पर नाराज मत हो। कलिंग स्थान नहीं, एक ...कलिंग प्रतीक है—युद्ध का, हत्या का, मानवता के संहार का ! युग-युग से कलिंग होते रहे हैं और अभी शायद....

संघमित्रा--क्या फिर कलिंग होंगे, भैया ? क्या फिर कोई कुणाल बनेगा भैया ? कुणाल भैया ! कुणाल भैया ! भैया, भैया, भगवान फिर कहीं कलिंग न बनायें....

महेन्द्र--फिर कलिंग न बने, बहुत ठीक ! लेकिन कलिंग न बने, इसके लिए हमें एक नया संसार बनाना होगा मित्रे ! उठो, चलो, हम एक ऐसा संसार बनायें, जहाँ कलिंग न हो, युद्ध न हो, हत्या न हो, संहार न हो ! कलिंग, अशोक, संघमित्रा, रक्षिता, कुणाल--ये सब एक ही घटना-शृंखला की कड़ियाँ हैं, मित्रे ! कुणाल ने नेत्र-दान देकर हमारे, और संसार के नेत्र खोलने की चेष्टा की है। यदि इतने पर भी हम नहीं चेते तो संसार की रक्षा कोई भगवान भी नहीं कर सकता। मित्रे ! चलो—आसू पोंछो, प्रयत्न में लगो। यदि एक-एक व्यक्ति अपने कर्तव्य को समझे, उसमें जुट जाय, तो फिर नया संसार बसकर रहेगा—बसकर, बसकर, बसकर रहेगा।

(पटाक्षेप)